साहित्य और सौन्दर्य

साहित्य और सौन्दर्य

लेखक

डा० फतहसिंह

संपादक

श्री हरिवल्लभ

प्रकाशक—
संस्कृति सदन, कोटा

मूल्य १।।=)
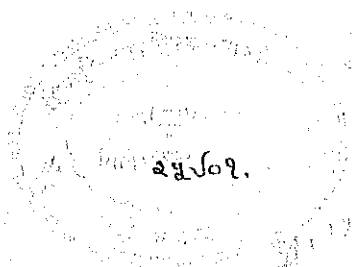
मुद्रक—
श्री उमेद प्रेस, कोटा

मेरे बालसखा

स्वर्गीय डा० रामकिशोर गुप्त

की पुण्य स्मृति में

दो शब्द

हमारे हिन्दी-लेखकों ने गत अर्द्धशती में जो कुछ पाठकों को दिया, वह अधिकांश में पाश्चात्य साहित्य, पाश्चात्य संस्कृति और पाश्चात्य विचार-धारा से प्रभावित होकर दिया। उन्होंने पाश्चात्य-सिद्धान्तों के साँचों में हमारे साहित्य को ढालने में ही अपनी कृत कृत्यता समझी। कुछ गिनती के विद्वान ही थे जिन्होंने चकाचौंध पैदा करने वाले इन विलाइती चश्मों, का उपयोग न करने का प्रयत्न किया; परन्तु वे भी उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके। वह देश की गुलामी के दिन थे। अंग्रेजी रीति-नीति, वेष-भूषा और आचार-विचार हमारे रोम-रोम में समा गये थे। लेखक उससे कैसे बच सकताथा? भारतीय संस्कृति का भक्त लेखक भी केवल दबे शब्दों में ही भारतीयता का राज अलाप सकता था।

किन्तु आज हम स्वतंत्र हैं और स्वतंत्र है भारतीयता की भारतीय संस्कृति, वह पावन गंगा जो वेदों से लेकर महर्षि दयानन्द तक अविच्छिन्न रूप में–कभी विस्तृत, कभी संकुचित; कभी स्वच्छ और निर्मल तथा कभी विदेशी संस्कृतियों के मिश्रण से विकृत होकर–आज तक बहती आ रही है। हम विदेशी शक्तियों से पराजित हुए; राजनीतिक दासता और आर्थिक गुलामी का जुआ हमने अपने कंधे पर रक्खा परन्तु अपनी उस अमूल्य निधि संस्कृति पर किसी को हाथ नहीं रखने दिया। शक हूण और यूनानी आये, पर आज कहाँ है उनका चिन्ह? हमारी संस्कृति सब को हजम कर गई। आक्रान्ताओं

और शासकों ने हमारे तन पर अधिकार किया पर मन को हम से नहीं छीन सके, उल्टे तन के बदले में उन्होंने अपना मन हमें भेंट कर दिया। पर आगे चलकर हमारी वह पाचन शक्ति, मन की वह आकर्षण शक्ति दुर्बल पड़ गई। विजातीय द्रव्यों को आत्मसात करना तो दूर, उल्टे अपने अंगों को काट-काट कर हम उन देवताओं को भेंट करने लगे। हमने अपना तन तो दिया ही, मन भी अपने हाथ से खो दिया। परतंत्रता के युग में हो भी क्या सकता था? फिर भी संस्कृति की रक्षा के लिए ऋषियों, संतों और भक्तों के प्रयत्न जारी रहे। उन्हीं प्रयत्नों का यह फल है कि आज हम अपने को भारतीय कहने में गौरव का अनुभव कर सकते हैं।

साहित्य को जीवन से अलग करके नहीं देखा जा सकता। भारतीय जीवन से अनुप्राणित साहित्य को भारतीय दृष्टि से देखना ही न्याय-संगत एवं उपयुक्त है। साहित्य, काव्य, संगीत चित्र, मूर्त्ति आदि सम्पूर्ण कलाओं पर जाति और देश की संस्कृति की छाप अनिवार्य रूप से रहती है। अतः साहित्य को उसी की संस्कृति के मापदण्ड से नापना श्रेयस्कर है। विदेशी फीतों और पैमानों से साहित्य को नापने से उसका समुचित मूल्यांकण कभी नहीं हो सकता। प्रस्तुत निबंधों में इसी दृष्टि का उपयोग किया गया है। संस्कृति के सूत्र में साहित्य और सौन्दर्य के सुमन गूँथे गये हैं। कवि, काव्य, महाकाव्य, शास्त्र सब भारतीय संस्कृति के हाथ में हाथ दिये उसके साथ फूँदी देते हुए प्रतीत होते हैं। विचार और विवेचन की यही शुद्ध दृष्टि है। इस दृष्टि के बिना हम साहित्य को उसके वास्तविक रूप में समझने का दावा नहीं कर सकते, उसके चारों ओर चक्कर चाहे लगाते रहें।

निबंधों के विषय नये नहीं हैं; कई विद्वान् लेखकों ने इन विषयों पर कलम चलाई होगी, परन्तु विषय को व्यक्त करने तथा समझने के लिए जो दृष्टि इन निबंधों से विचारकों को मिलेगी, वह एक दम नई और देश-काल में वास्तविक दृष्टि भी है।

संस्कृति सदन हर्ष और उमंग के साथ ये निबंध प्रस्तुत कर रहा है। हिन्दी के उच्च श्रेणी के विद्यार्थी, आलोचक तथा लेखक पाश्चात्य चकाचौंध में पड़ने से पहले इस दृष्टिकोण को अपनावें तो साहित्य, संस्कृति और समाज सब का भला कर सकते हैं।

जिस उमंग के साथ यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है, उसी उमंग से यदि साहित्य जिज्ञासुओं ने इसे अपनाया तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

संपादक

अनुक्रमणिका

साहित्य और सौन्दर्य

कवि और काव्य

(१) कवि

कवि काव्य का मूल है और काव्य कवि की आत्माभिव्यक्ति। श्रीमद्भगवद्गीता* में 'कवि' शब्द का प्रयोग आत्मा के सूक्ष्मतम तथा अमूर्त्ततम रूप के लिये हुआ है:—

कवि पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्य–रूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

आत्मा के इस विश्व-विधातृ, अणोरणीयान्, अचिन्त्य तथा आदित्यवर्ण ज्योतिःस्वरूप कवि-रूप को हम ऋग्वेद† में भी पाते हैं; और वहां भी उसके लिये 'कवि' शब्द का प्रयोग हुआ है:—

कविमिव प्रकेत्तसम (८ ८४, २, सा, वे० १२४५)
कविं केतु धासिं भानुमद्रे (७, ६, २)
कवि कवित्वा दिवि रूपमास (१०, १२४, ७)
कवि शशासुः कवयो दब्धा (४, २, १२)

आत्मा कवि का यह रूप तो निर्विकल्पक समाधि में ही मिल सकता है। व्यावहारिक जगत में तो, इस परम अद्वैत सत्ता के दो रूप दिखाई पड़ते हैं-एक अमृत रूप है, जो मन वाक्, प्राण

---

* ८, ९ तु० म० मनु ४, २४।
† विशेष विस्तार के लिए, देखिये लेखक का 'वैदिक दर्शन'

चक्षु, श्रोत्र आदि की चैतन्य शक्ति में निहित है, दूसरा मर्त्य रूप है, जो लोम, त्वक्, मांस, अस्थि तथा मज्जा आदि में मूर्तिमान है:–

"तदतो वाऽस्य ता पञ्च मर्त्यास्तन्व आस लोम त्वङ्मांसमस्थि मज्जाथैता, अमृता मनो वाक् प्राणश्चक्षुश्रोत्रम् ।"*

स्पष्टत: ये दोनों रूप एक दूसरे के विपरीत हैं। एक अमृत, अमूर्त तथा अनिरुक्त है, तो दूसरा मर्त्य, मूर्त एवं निरुक्त, एक आँखियारा है, तो दूसरा अन्धा; एक लँगड़ा है तो दूसरा पैरों वाला, एक पुरुष है दूसरा स्त्री†। इन दोनों के इस पारस्परिक विपर्य्यय को दोनों के परस्पर विरोधी नाम भी सूचित करते हैं। अत: पहले का नाम 'कवि' है, जिसकी मूल में 'कव' धातु है, जब कि दूसरे का ना 'वाक्' है जिसकी निष्पत्ति न केवल 'वच्' से सम्भव है अपितु वङ्का, वङ्करी वाक आदि वैदिक शब्दों की 'वक्' धातु से भी हो सकती है। एक को 'पश्य'‡ कहते हैं क्योंकि उसके निष्क्रिय कर्म को 'पश' (देखना) धातु से व्यक्त किया जाता है; और दूसरे को 'शब्द' भी कहते हैं, क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति न केवल 'शब्द शब्दक्रियायाम्' से, अपितु 'पश' के विलोम शप् आक्रोशे' से भी हो सकती है।

इन दोनों स्वरूपों के विपर्य्यय में पार्थक्व अथवा विरोध देखना भूल होगी, क्योंकि वे एक ही आत्मा के दो पक्ष हैं, जिनमें से एक दूसरे का पूरक है–एक धनात्मा है, तो दूसरा ऋणात्मा: एक शक्तिमान् है तो दूसरा शक्ति। दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है, एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता:—

---

* श० ब्रा० १०, १, ३, ४ तु० क० ऐ० ३०१, २ अनु० ।

† साँ० का० ११ तथा २१।

‡ न पश्यो मृत्यु पश्यति न रोगं नोत दुःखताँ
सर्वं पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः (छा० उ० ७, २६, १)

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ॥*

वेद में आत्मा के धन तथा ऋण रूपों के अभेद तथा भेद दोनों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि†—वे दोनों संयुक्त सुपर्ण सखा हैं, जो एक ही वृक्ष पर परस्पर परिष्वजन कर रहे हैं; उनमें से एक स्वादु फलों को चखता है जब कि दूसरा केवल देखता है, खाता नहीं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति

परन्तु यह रूप-द्वन्द्व स्थूल जगत् में ही है; और यहाँ भी ये दोनों ऐसे घुले मिले हुए हैं कि एक ही दिखाई पड़ता है अतः लोग शक्ति को ही शक्तिमान्, वाक् को ही कवि अथवा स्त्री को ही पुरुष समझ बैठते हैं; उनके यथार्थ विवेचन में तो ज्ञानी ही समर्थ हो सकता है—

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः‡ ।
पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।

वास्तव में, जैसा कि सांख्य ग्रन्थों में कहा गया है, स्त्री (प्रकृति) पुरुष के चारों ओर ऐसा जाल बिछा देती है कि वह अपने को पूर्णतया भूल जाता है और प्रकृति को ही आत्मरूप समझने लगता है। ऋग्वेद में इसी बात को बतलाते हुए कहा गया है कि इस प्रकार के भ्रान्ति पूर्ण ज्ञान को रखने वाला पुत्र 'कवि' है; और इसको सविशेष जानने वाला तो 'पिता का भी पिता' है—

---

* अभिनवगुप्त परा० त्रि० १, १ ।

† ऋ० वे० १, १६४, २० और अन्यत्र भी ।

‡ ऋ० वे० १, १६४, १६ ।

कवियं पुत्र स ईमाचिकेत
यस्ता विजानात् स पितुष्पितासता ॥ (ऋ० वे० १, १६४, १६)

यह 'पिता का पिता' आत्मा का वही शुद्ध, बुद्ध और चित स्वरूप है, जिसमें उक्त सारा द्वंद्व, द्वैत अथवा अनेकत्व विलीन जो जाता है—न वहां शक्ति (वाक्) रहती है न उसका वह पुत्र (कवि); वे न जाने वहाँ समा जाते हैं और न मालूम कहाँ से वह उत्पन्न हो जाता है:—

अवः-परेण पर एनावरेण पदा वत्सविभ्रतीगोरुदस्थात्
सा कद्रोची कं स्विदर्धं परागात् क स्वित् सूते नहियुथे अन्तः ।

यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पिता कवि वही अद्वैत तथा अमूर्त आत्मा अथवा ब्रह्म है, जिसका उल्लेख प्रारंभ में उद्धृत वेदमंत्रों तथा श्रीमद्भगवद्गीता के 'कविं पुराणम्' आदि में मिलता है इसी कवि का मूर्तरूप दूसरा 'कवि' है जो 'वाक्' के साथ व्यावहारिक जगत् में द्वैत सत्ता के रूप में रहता है। पहला अव्यक्त है, तो दूसरा व्यक्त; दूसरा पहले का संप्रसरण मात्र है। अत: पहले 'कवि' की व्युत्पत्ति 'कु' धातु से मानी जाती है, और दूसरे की 'कु' की 'संप्रसरण' कव् धातु से*। दोनों कवियों के स्वपरूपों में जिस प्रकार भिन्नता है, उसी प्रकार दोनों की धातुओं के अर्थों में भी-'कु' का प्रयोग 'शब्द' के लिये होता† है, जिसका अर्थ इस प्रसंग में श्रोत्रग्राह्य स्वन या ध्वनि न होकर शब्द-ब्रह्म अथवा शब्दस्फोट आदि की कल्पना में उपलब्ध 'मूल अभिव्यक्ति' है; 'कव्' का प्रयोग 'वर्ण' अर्थ में होता है, जिससे रंग, रूप, वर्णन आदि की मूर्त अभिव्यक्ति होती है‡। पहला

---

* देखिये उणा० ४, १३८।

† पा धा० पा० १, ९८६; २, ३३; ६, १०८।

‡ पा० धा० पा० १, ४०९; देखिये आप्टे सं० डि०।

दूसरे से पृथक नहीं है; परन्तु वह मूल तथा अमूर्त है, जब कि दूसरा उसका मूर्त 'संप्रसरण' पहला कवि अद्वैत तथा निष्कल है, जब कि दूसरा द्वैत, वाक् (शक्ति) से संयुक्त। व्यावहारिक जगत् में दूसरे का अस्तित्व ध्रुव सत्य है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से पहला ही एक मात्र सत् है।

(२) रस क्या है ?

यह आत्मा अथवा कवि ही 'रस' है; यही सब का आनन्द है; यही सब का प्राण है; बिना इसके भला कौन रह सकता है:—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति॥

(तै० उ० २०७)

इस 'रस' से जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, उसका कुछ अनुमान कराने के लिये तैत्तिरी उपनिषद् ने निम्नलिखित प्रयत्न किया है:—

बुद्धि तथा वित्त	= एक मानुष आनन्द।
१०० मा० आ०	= एक मनुष्य गन्धर्वों का आनन्द।
१०० म० गं० आ०	= एक पितरों का आनन्द।
१०० पितरों का०	= १ आजानजा देवताओं का आनन्द।
१०० आ० दे० आ०	= १ कर्म देवों का आनन्द।
१०० क० दे० आ०	= १ देवों का आनन्द।
१०० दे० आ०	= १ इन्द्र का आनन्द।
१०० इ० आ०	= १ बृहस्पति का आनन्द।
१०० बृ० आ०	= १ प्रजापति का आनन्द।
१०० प्र० आ०	= १ ब्रह्म का आनन्द।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि ब्रह्मानन्द ही वास्तविक 'रस' है। ब्रह्म तो आनन्दस्वरूप है; इसीलिये अथर्ववेद में उसे अकाम,

अमृत, स्वयंभू तथा 'रस से तृप्त' यक्ष कहा गया है, जिसको जान लेने से फिर मृत्यु का भय नहीं रहता*। वहाँ द्वैत-भाव जाता रहता है और केवल एकत्व की अनुभूति होने से मोह, शोक आदि का प्रपञ्च शान्त हो जाता है† और आनन्द मात्र रह जाता है। इस रस-स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये भटकने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह यक्ष तो हमारी "अष्टचक्रा, नवद्वारा, देवपुरी अयोध्या" (शरीर) में ही ज्योतिर्मण्डित हिरण्ययकोश अथवा 'अपराजिता हिरण्ययी पुरी' में विराजमान रहता‡ है:—

> अष्टचक्रा नवद्वारा देवानाँ पूरयोध्या।
> तस्यां हिरण्ययः कोशः स्योतिषावृतः।
> तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठते।
> तस्मिन यद् यक्षमात्मन्वत् तद वै ब्रह्मविदो विदुः
> प्रभ्राजमानाँ हरिणीं यशसा संपरिवृताम्।
> पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्।

यही यक्ष (ब्रह्म) हमारे भावों, विचारों आदि का स्रोत है क्योंकि इसी में हमारे शरीर का हृदय-तत्व तथा मूर्धा-तत्व¶ अनुस्यूत है और यही उसको (हृदय और मूर्धा को) अपने प्रदेश से सर्वत्र प्रेरित करता है। अपने भीतर स्थित कस्तूरी की सुगन्धि को जिस प्रकार मृग बाहर के पदार्थों में ढूँढ़ता फिरता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने ही अन्तस्थ 'रस' की उपलब्धि के

---

* अथ० वे० १०, ८, ४३-४४।

† य० वे० ४०, ७-८।

‡ अ० वे० १०, २, ३१-३३।

¶ मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयन् पवमानोधि शीर्षतः।
(अ० वे० १०, २, २६)

लिये बाह्य विषयों को टटोलता फिरता है। मनुष्य की उन्मत्त खोज में उसे कभी कभी कुछ सुख मिल जाता है, परन्तु वह अज्ञान के कारण समझ लेता है कि मुझे यह रसकण अमुक विषय-भोग से प्राप्त हुआ है, जब कि वस्तुतः वह कण उसी 'रस-सिन्धु' ब्रह्म से ही टपक पड़ता है। परन्तु इन बिन्दुओं से प्यास बुझती नहीं, बढ़ती जाती है और प्राणी अन्धा होकर 'मृगतृष्णा' के पीछे भटकता फिरता है। यह एक विचित्र विडम्बना है कि सारे विश्व में वही आनन्द ब्रह्म व्याप्त है फिर भी हमें उसका एक घूंट भी नहीं मिल पाता—

जीवन बन में उजियाली है।

यह किरनों की कोमल धारा बहती ले अनुराग तुम्हारा
फिर भी प्यासा हृदय हमारा, व्यथा घूमती मतवाली है॥

× × ×

एक घूँट का प्यासा जीवन निरख रहा सब को भर लोचन।
कौन छिपाये है उसका धन-कहां सजल वह हरिआली है॥
('प्रसाद' के 'एक घूँट' से)

(३) काव्य

हमारी इस विकराल अतृप्ति का कारण यह है कि हमारे स्थूल-भौतिक जगत् में, वह रस-स्वरूप ब्रह्म शुद्ध तथा आत्यन्तिक रूप में नहीं रह सकता; अपितु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यहां वह धन तथा ऋण, सरस तथा अ-रस, सुख तथा दुःख दोनों ही पक्षों में मिलता है। हमारे व्यष्टि तथा समष्टि के जीवन में दोनों तत्व विद्यमान हैं चाहे हम उन्हें ब्रह्म-माया या पुरुष-प्रकृति कहें अथवा शक्तिमान-शक्ति या कवि-वाक् कहें; यह बात निर्विवाद है कि यहाँ व्यावहारिक जगत् में इस जोड़े में से दूसरा तत्व ही

प्रधान रहता है और "स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुस आहुः" का वेद-वाक्य चरितार्थ करता है। अतः शरीरधारियों की जो भी अभिव्यक्ति होगी, वह साधारणतया शक्ति तत्व या वाक्' रूप में ही होगी। वाक्-रूप अभिव्यक्ति को 'वाक्य' कहा जायगा और इसमें—केवल शुद्ध वाक्य में—'रस' नहीं होगा। परन्तु, शक्ति तथा शक्तिमान् अथवा कवि तथा वाक् का अविनाभाव सम्बन्ध होने से कोई भी अभिव्यक्ति कोरी 'वाक्य' रूप नहीं हो सकती उसके भीतर प्रच्छन्न रूप में 'कवि' तो रहेगा ही। अतः 'वाक्य' यदि अपने में 'कवि' का गुप्त से प्रकट, अनिरुक्त से निरुक्त कर सके तो वही 'कवि' की अभिव्यक्ति या 'काव्य' कहा जा सकता है, क्योंकि कवि स्वयं बिन वाक् के तो मूर्त या व्यक्त हो ही नहीं सकता। 'कवि' को व्यक्त करने का अभिप्राय है रस के उत्स को खोल देना, अतः 'वाक्य' में जितनी पुट रस की आती जायेगी, उतना ही वह 'काव्य' कहलाने का अधिकार होता जायेगा। उसी को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'वाक्य' जितना ही अधिक 'काव्य' रूप होगा अपने में 'कवि' को प्रत्यक्ष करेगा। उतना ही वह रसात्मक होता जायेगा। इसीलिये साहित्य दर्पणकार की परम्परा 'वाक्य को ही काव्य माना गया है।

काव्य के इस स्वरूप के अन्तर्ग सभी प्रकार की रसात्मक अभिव्यक्तियाँ आजाती हैं। वास्तु, मूर्ति तथा चित्र जैसी स्थूल कलाओं से लेकर संगीत तथा कविता जैसी सभी कलायें रसात्मक अभिव्यक्तियां होने से 'काव्य' है। यही कारण है कि प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ श्री रायकृष्णदासजी ने साहित्यदर्पण तथा रस गंगाधर की काव्य-परिभाषाओं को कला-मात्र के लिये उपयुक्त पाया। उनका कहना है कि—काव्य की जो परिभाषा अपने यहाँ है, उसे यदि व्यापक रूप में लगाइये, तो वह काव्य की परिभाषा नहीं

रह जाती; चित्र, मूर्ति, कविता, संगीत आदि कलामत्र की परिभाषा बनाने के लिये, एक—देशीय रूप देकर काव्य की परिभाषा प्रस्तुत की गई है। अर्थात् काव्य की परिभाषा की पूर्ण व्याप्ति तभी होती है, जब हम 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' के स्थान पर 'कृतिरसात्मिकाकला' कहें या "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" के बदले 'रमणीयार्थप्रतिपादिक कृतिः कला'। वस्तुतः हमने 'काव्य' तथा 'वाक्य' का जो रूप ऊपर निर्धारित किया है, उसको ध्यान में रखने पर उक्त दोनों परिभाषाओं में बिना कोई शाब्दिक हेर फेर किये ही 'रसात्मक' अथवा 'रमणीयार्थप्रतिपादक' 'वाक्य के अन्तर्गत सभी कलाओं को लिया जा सकता है। मेरा अपना अनुमान तो यह हैकि उक्त दोनों परिभाषायें सम्भवतः उस काल से चली आ रही थीं जिस समय 'काव्य' तथा 'वाक्य' अपने मूल अर्थ में प्रयुक्त होते थे; और साहित्यदर्पणकार तथा रस—गंगाधर ने केवल उनका पुनरुद्धार करके कविता में लागू किया। जैसा इन ग्रन्थों में 'कविता' के लिये किया गया, वैसा ही सम्भवतः अन्य कलाओं के लिये तत्तद्सम्बन्धी ग्रन्थों में भी किया जाता होगा। इसका सब से अच्छा प्रमाण 'विष्णुधर्मोत्तरम्' नामक ग्रन्थ है, जहाँ एक से अधिक कलाओं में, कविता के समान ही 'रसात्मकता का उल्लेख किया गया है; यहाँ पर विभिन्न कलाओं से सम्बन्ध रखने वाले आवश्यक उद्धरणों को 'विष्णुधर्मोत्तरम्' में से दिया जा रहा है:—

(१) नाट्य-शृङ्गार-हास्य-करुणा-वीर-रौद्र-भयानकः।
वीभत्साद्भुत-शान्ताख्या नव नाट्य-रसाः स्मृताः

(२) गान—नव रसाः। तत्र हास्य-शृङ्गारयोर्मध्यम-पञ्चमौ।
वीररौद्राद्भुतेषु षड्जपञ्चमौ। करुणे निषादगान्धारौ। वीभत्स-भयानकयोर्धैवतम् शान्ते मध्यमम्।

तथा लयाः। हास्य-शृङ्गारयोमध्यमा। बीभत्सभया-
नकयोर्विलम्बितम्। वीररौद्राद्भुतेषुद्रुत।

(३) नृत-रसेन भावेन समन्वितं च तालनुग काव्यरसानुगं च
गीतानुगं नृत्त-मुशन्तिधन्यं सुखप्रदं धर्मविवर्धमञ्च

(४) चित्र-शृङ्गार–हास्य–करुणा–वीर–रौद्र–भयानकः
वीभत्साद्भुतशान्ताख्या नव चित्र रसा स्मृताः।

(५) मूर्ति–यथा चित्र तथैवोक्तं खातपूर्वनराधिप।
सुवर्णरूप्यताम्रादि तच्च लोहेषुकारयेत्।

उपर्युक्त अवतरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय परंपरा के अनुसार, नाट्य आदि कलाओं में भी रस का वही स्थान था जो कविता में। इन कलाओं को 'रसात्मक वाक्य' कहना उतना ही उपयुक्त है, जितना 'कविता' को। अतः इन सभी अभिव्यक्तियों को काव्य—रस रूप कवि (आत्मा) की अभिव्यक्ति से युक्त 'वाक्य'—कहना अनुचित नहीं है।

(४) काव्य–रस

अब प्रश्न होता है कि ऊपर 'रसो वै सः' कहकर जिस रस का उल्लेख किया गया है, उसमें तथा काव्य रस में कोई अन्तर नहीं। वास्तव में इस प्रश्न का उत्तर काव्य के उक्त स्वरूप में ही निहित है। काव्य तो स्वभावतः अभिव्यक्ति है, जब कि वह रस-स्वरूप ब्रह्म (आत्मा) यथार्थतः अव्यक्त एवं कूटस्थ है; काव्य चक्षु, श्रोत्र, मन आदि से भोग्य है, जब कि वह इन सब से परे है और उसके विषय में कहा गया है कि—

यतो वाचि विनिवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनोनः।

(तै० उ० २, ६)

शक्तिमान् की अभिव्यक्ति शक्ति द्वारा होती है; आत्मा की अभिव्यक्ति शरीर द्वारा होती है, 'कवि' 'वाक्य' द्वारा ही व्यक्त हो सकता है, क्योंकि अभिव्यक्ति मात्र स्थूल-जगत् की वस्तु है। अतः काव्य से वाक्यत्व, शरीरत्व अथवा स्थूलत्व का पूर्णाभाव कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि उसके जाते ही व्यावहारिक जगत् का द्वैतभाव ही चला जायेगा। अतः वाक्याश्रित काव्य का रस शुद्ध ब्रह्मानन्द 'रस' नहीं हो सकता। इसी से काव्य-रस को ब्रह्मानन्द न कहकर ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है।

ब्रह्मानन्द से काव्य-रस भिन्न होते हुए भी तत्वत एक ही है, क्योंकि काव्यरस यथार्थतः अव्यक्त 'रस' का ही व्यक्त रूप है। अतः इसके वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये अव्यक्त की व्यक्तीकरण-प्रणाली समझना परमावश्यक है।

अव्यक्त जिस स्थूल-यन्त्र द्वारा व्यक्त होता है, उसकी रचना में ही सारा रहस्य छिपा हुआ है। इस यन्त्र को हम व्यष्टि रूप में शरीर कहते हैं। इसका स्थूलतम रूप तो 'अन्नमय कोश' है, जिसमें पिण्डात्मक तथा रसात्मक पदार्थ हैं। इस कोश के कण-कण में भिदा हुआ 'प्राणमय कोश है, जिसमें वायव्य एवं वैद्युत तत्व हैं। 'प्राणमय' के अणु अणु में 'मनोमय कोश' व्याप्त है, जो हमारी इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों को संचालित करता है तथा उनको नानारूप प्रदान करता है। मनोमय के मूल में विज्ञानमय-कोश' है जहाँ मनोमय की सारी अनेकता तथा भिन्नता एकत्व में परिणत हो जाती है-मनोमय की सारी नानात्व-मयी अनुभूतियाँ एक मूल अनुभूति का रूप धारण कर लेती है। 'विज्ञानमय' का सूक्ष्मतम रूप तथा स्रोत 'आनन्दमय' कोश है, जिसमें पूर्ण, अद्वैत, आनन्द-स्वरूप ब्रह्म है। यही यथार्थ 'रस' है। यहाँ पर 'अहंता' तक नहीं रहती; अतः अभिव्यक्ति की

बात ही कैसे हो सकती है। वह तो सर्वथा अव्यक्त 'रस' है, व्यक्ती करण के साथ ही 'अहंकार' प्रारम्भ हो जाता है, जो पूर्ण अद्वैत नहीं तो 'अन्यदिव'* तो अवश्य है।

व्यक्तीकरण का प्रारम्भ 'विज्ञानमय' कोश में होता है। इस कोश की अभिव्यक्ति सूक्ष्मतम है, जो 'मनोमय' तथा 'प्राणमय' में उत्तरोत्तर स्थूल होती हुई अन्त में अन्नमयकोश में स्थूलतम होकर इन्द्रियों का विषय बन जाती है—शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध के अन्तर्गत 'प्रियं' (सुन्दरं) में परिणत होकर श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा आस्वाद्य हो जाती है। अन्नमय तथा प्राणमय कोशों को 'स्थूल-शरीर' भी कहते हैं, और मनोमय को 'सूक्ष्म-शरीर' तथा विज्ञानमय को 'कारण-शरीर'। इन्हीं तीनों शरीरों द्वारा वह अव्यक्त रस व्यक्त होता है; यही तीन 'स्तोम' हैं, जिनके द्वारा वह परिवृद्ध होता हुआ बतलाया गया है:—

य: स्तोमेभिर्वावृधे पूर्व्येभिर्यो मध्यमेभिरुत नूतनेभिः।
(ऋ० वे० ३, ३२, १३)

इस अभिव्यक्ति का कारण है 'अव्यक्त' की शक्ति जिसको वाक्, माया आदि नामों से पुकारा जाता है और जिसके प्रादुर्भूत होते ही ब्रह्म-माया, धनात्मा-ऋणात्मा अथवा कवि-वाक् का 'द्वैत' चल पड़ता है; इसके फलस्वरूप 'स्वयंभू यक्ष (आत्मा) का उल्लेख हो चुका है, वह शरीर-त्रय के उपाधि भेद से कवि, मनीषी तथा परिभू रूप धारण करता हुआ कोशों में यथोचित अर्थों (विषयों) की स्थापना करता है :—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (य० वे० ४०, ८)

---

* देखिये बृ० उ० ४, ३, ३१।

(५) एकत्व—अनेकत्व—अद्वैत

कविवागात्मक द्वैत के इस व्यक्तीकरण में, एक ध्यान देने की बात यह है कि कवि (आत्मा) की अभिव्यक्ति जितनी अधिक स्थूल होगी, उस पर 'वाक्' (माया) का आवरण उतना ही गहरा होगा और रस-स्वरूप आत्मा (कवि) उतना ही परोक्ष रहेगा। इसके विपरीत उसकी अभिव्यक्ति जितनी सूक्ष्म होगी, 'वाक्' का आवरण उतना ही हलका होगा और आनन्दस्वरूप आत्मा उतना ही अधिक प्रत्यक्ष होगा। अतएव हमारे स्थूल शरीर में वाक् (माया या प्रकृति) का आवरण बहुत स्थूल होने से, 'कवि' (आत्मा पूर्णतया परोक्ष रहता है और उसकी जो अभिव्यक्ति भी होती है, वह केवल आभास-मात्र रसस्वरूप ब्रह्म का जो क्षुद्रतम परमाणु मिलता भी है, वह भी माया-शवलित। यही कारण है कि हम अपने स्थूल अङ्गों से जिन भोगों को भोगते हैं, उनसे हमें केवल क्षणिक सुख ही मिलता है, जिससे हमारी 'प्यास' अतृप्त ही रह जाती है।

इसके अतिरिक्त वाक्-कवि या माया-ब्रह्म एक ही रस-स्वरूप आत्मा के ऋण तथा धन पक्ष होने के कारण, वाक् द्वारा अभिव्यक्त 'कवि' का स्वरूप रसात्मकता में अरसात्मकता अथवा वि-रसात्मकता भी मिश्रित रखता है। इसके फलस्वरूप परम चैतन्य तथा आनन्द-स्वरूप आत्मा की अभिव्यक्ति हमारे स्थूल शरीर में, पानी के बुद्बुदों की भाँति, अनेक क्षणिक भावों के रूप में होती है। परन्तु ज्यों ही हम स्थूल शरीर से सूक्ष्म की ओर जाते हैं, त्यों ही बात बदल जाती है—रसात्मकता में निरसात्मकता की कटुता कम होने लगती है, भावों की क्षणभङ्गुरता के स्थान पर स्थायित्व आने लगता है और अनेकता एकता की ओर अग्रसर होने लगती है यहाँ तक कि 'विज्ञानमय'

कोश में जाकर सारा नानात्व एकत्व में परिणत हो जाता है, जिसके भीतर संज्ञान, आज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति संकल्प, क्रतु असु, काम आदि सभी का समावेश हो जाता है*। अनेकता के साथ ही उनकी विभिन्नता भी चली जाती है और वहाँ केवल 'रस' (आनन्द) की ही अनुभूति होती है। इसीको रस की मधुमती भूमिका कहा है जिसका चित्र पातञ्जल योग के भाष्यकार व्यास ने इस प्रकार दिया है :—

मधुमतीं भूमिकाँ साक्षात्कुर्वतोऽस्य देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते "भोइहास्यताम, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयंभोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते, वैहायसमिदं यानम् अमीकल्पद्रु-माः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः स्वगुणैः सर्व-मिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति।

यहां पर आनन्द के अनेक भौतिक और अलौकिक प्रतीकों के द्वारा विज्ञानमय कोशस्थ मधुमती भूमिका की 'रसानुभूति' का स्वरूप दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। वेद में इसका वर्णन और सरल तथा सरस है:—

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोकायत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र मामृतंकृधि।
यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि।

---

* ऐ० उ० ३, २—३।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्तु यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतंकृधि ।

(ऋ० वे० ६, ११३, ७, १०)

उपर्युक्त अनेक क्षणिक भावों तथा 'एक' मात्र रस के बीच में उन भावों की स्थिति है, जो कई हैं और स्थायी हैं। यदि हम कोशों को ध्यान में रखकर चलें, तो 'अन्नमय' में स्थूल इन्द्रियों के संनिकर्ष से होने वाली अनुभूतियाँ ही क्षणिक भाव हैं जो प्रतिक्षण बदलते रहते हैं और 'विज्ञानमय' में इन सब का एक तथा साधारणीकृत रूप है। इन दोनों कोशों के बीच में 'प्राणमय' कोश में पहुंचकर 'अन्नमय' के क्षणिक भाव स्थायित्व ग्रहण कर लेते हैं और मनोमय में जाकर यही स्थायीभाव रसत्व कर लेते हैं। स्थायीभावों की इन दोनों अवस्थाओं में कोई गुण-भेद नहीं है, केवल मात्रा-भेद है। अतः भानुदत्त ने अपनी रसतरङ्गिणी में पहली अवस्था के स्थायीभावों को 'अलौकिक रस' कहा है। इन दोनों की व्याख्या करते हुए तरङ्गिणीकार ने कहा है कि पहले प्रकार के तो वे रस हैं, जो व्यावहारिक जीवन में अनुभव किये जाते हैं. जब कि दूसरे प्रकार के वे हैं, जिनकी अनुभूति स्वप्न देखने, मनोराज्य करने तथा काव्य आस्वादने में होती है। इस-लिये रसानुभूति की अवस्थायें निम्नलिखित कही जा सकती हैं:—

१—अन्नमय कोश	क्षणिक भाव
२—प्राणमय कोश	नव स्थायी भाव (लौकिक रस)
३—मनोमय कोश	नव रस (अलौकिक रस)
४—विज्ञानमय कोश	एक रस (ब्रह्मानन्द सहोदर)

रसानुभूति के स्तर-भेद के अनुसार, रस के विभावक पदार्थो अथवा काव्यों के भी चार भेद हो सकते हैं।—

(१) सञ्चारी काव्य, जो केवल क्षणिक भावों का उद्रेक कर सकते हैं।

(२) स्थायी काव्य, जो स्थायी भावों का विभावन कर सकते हैं।

(३) रस काव्य जो उक्त भावों को अत्यधिक तीव्र तथा सरल करके उन्हें रसत्व प्रदान कर देते हैं।

(४) एक-रसकाव्य, जो अनेक रसों की परिणति केवल एक 'रस' में कर सकता है। वास्तव में इस प्रकार का कोई काव्य 'रसकाव्य' से भिन्न नहीं होता, अपितु 'रस-काव्य' ही काव्या-स्वादक के सहृदयपन आस्वादन-प्रयत्न आदि अनेक परिस्थि-तियों के कारण 'रस' मात्र की अनुभूति कराने में समर्थ हो जाता है। अत: वस्तुत: काव्य के भेद तीन ही हैं।

(६) नाट्य—श्रेष्ठ-काव्य

परन्तु, सभी काव्य रसानुभूति की अन्तिम अवस्था तक पहुंचाने में एक से समर्थ नहीं हो सकते। ऊपर विष्णु-धर्मोत्तर में वर्णित नाट्य, गान, नृत्त, चित्र तथा मूर्ति नामक काव्यों का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ तो केवल दृश्य हैं और कुछ केवल श्रव्य; इन दोनों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार का काव्य वह है, जो दृश्य तथा श्रव्य दोनों होने के कारण 'मिश्र' कहा जा सकता है। ऐसा काव्य ही वस्तुत: सर्वोत्कृष्ट रसानुभूति कराने में सब से अधिक तथा सुगमता के साथ सफल हो सकता है, क्योंकि जहां अन्य काव्य केवल श्रोत्र या केवल नेत्र द्वारा हमें विभावित करेंगे, वहाँ 'मिश्र' काव्य दोनों इन्द्रियों द्वारा अपना प्रभाव डालेगा। इस प्रकार का काव्य 'नाट्य'* ही हो सकता है, परन्तु 'नाट्य'

* ना॰ शा॰ १, ११।

को नाटक का पर्यायवाची समझना भूल होगी, क्योंकि इसके तत्व न केवल गीत, अभिनय तथा रस हैं, अपितु चौथा तत्व† पाठ भी है; जिसके साथ इतिहास-सहित वेद, धर्म, अर्थ, उपदेश तथा 'संग्रह' का सम्बन्ध होने से नाट्य नाटक से पूर्णतया पृथक् हो ताजा‡ है। नाट्य शब्द की उत्पत्ति 'नट्' धातु से हुई है, जिसका प्रयोग केलव नृत्त, नृत्य, अभिनय आदि अर्थों में होता है; अत: उक्त 'नाट्य' को 'भारतनाट्य' कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि प्रसिद्ध संगीत मर्मज्ञ श्री जयदेवसिंह के अनुसार 'भरत' शब्द के भ, र तथा त क्रमशः भाव, राग एवं ताल के भी द्योतक हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में कालिदास ने 'चलित' नामक नाट्य का जो वर्णन किया है, उससे भी 'नाट्य' के ऐसे ही रूप का पता चलता है, जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य, भाव, राग, ताल और अभिनय सभी का समावेश था 'चलित' में पहले मुरज-वाद्यनाद होता है; फिर मालवि का 'उपगान' करके चतुष्पद गीत गाती है और गीत के वचनों को अपने अङ्गों द्वारा 'अभिनय' करती हुई 'नाट्य' करती है, जिसका सुन्दर-वर्णन निम्नलिखित है-

अङ्गैरन्तर्निहित-वचनैः सूचितः सम्यगर्थः ।
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ ।
भावो भावं नुदति विषयाद्राग-बन्ध स ।

---

† जग्राह पाठमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेवच ।
यजुर्वेदाभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ (ना० शा० १, १, १७)

‡ ना० शा० १, १५-१६ ।

× पा० भा० पा० १, ३३२; १, ८, १८; १०, १२ ।

चलित' नाट्य के उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत गीत, वाद्य, अभिनय, नृत्य आदि के रूप में दृश्य तथा श्रव्य दोनों तत्व रहते थे। परन्तु, 'चलित' नाट्य तो एक प्रकार है जिसमें एक गीत के अर्थ को ही अभिनीत किया गया; नाट्य के व्यापक क्षेत्र में तो 'लोक-चरित्र'* का प्रदर्शन हो सकना भी सम्भव था:—

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोक-चरितं नाना-रस दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥

'लोक-चरित' के प्रदर्शन ने ही रूपकों का रूप धारण कर लिया। अतः भारतीय नाट्यशास्त्र में नृत्य, अभिनय, वाद्य, गीत आदि के साथ साथ 'रूपकों' का भी विवेचन किया गया है। नाट्य विशेषतया रूपक—में पद्य-गीत के साथ ही 'गद्य'† वाक्यावली का भी थोड़ा बहुत प्रयोग होता होगा। परन्तु, गद्य 'नाट्य' की दृष्टि से, प्रारम्भ में, पद्य की अपेक्षा कम महत्व की रही होगी; क्योंकि वह तो केवल बोली ही जाती थी, जिस कारण उसका नाम 'गद्य' (बोलने योग्य) था। इसकी आवश्यकता तो कथानक के वर्णन मात्र के लिये थी और रसोत्पत्ति से उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। इसके विपरीत पद्य-गीत ही में ऐसी लय होती थी, जिसके अनुसार नृत्य में पाद-न्यास किया जा सके; इसी कारण उसको गत्यर्थक 'पद्'* धातु से निष्पन्न 'पद्य' नाम दिया गया है-इस प्रकार 'नाट्य' के संसर्ग में रहने से ही पद्य-गीतों के अन्तर्गत भागों को पद, पाद अथवा चरण कहा

---

* ना० शा० ३६, ११।

† देखिये ना० शा० १८ वाँ अध्याय।

* पा० धा० पा० ४, ६०, १०, ३४०।

गया, क्योंकि प्रत्येक पद्य-भाग के साथ एक विशेष पाद-न्यास होता था—प्रत्येक पद्य-भाग पदनीय अथवा चलनीय था। अतः जिस प्रकार पाश्चात्य 'लिरिक' (गीति-काव्य) का नामकरण 'लायर' (एक वाद्य-विशेष) के संसर्ग में हुआ उसी प्रकार भारतीय पद्यगीतों या पदों के नामकरण का श्रेय नाट्य को है।

नाट्यकी उपयोगिता का रहस्य काव्य-मात्र की रसात्मकता में निहित है। काव्य तो वही है जो 'कविं पुराण' को व्यक्त करे और रस-स्वरूप आत्मा को आस्वाद्य बना सके। योग इस आस्वादन के लिये मनन, निदिध्यासन तथा समाधि का सहारा लेता है—वाह्य इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता हुआ सविकल्पक समाधि में पहुँचकर इस अनुभूति को प्राप्त करता है। काव्य का मार्ग दूसरा ही है; नाट्यशास्त्र ने उसको भाव-विभाव-अनुभाव-संचारिभाव संयोग कहा है। दूसरे शब्दों में, काव्य ऐसे वाह्य-विभावों की सृष्टि करता है, जो, काव्यास्वादक के हृदय में एक प्रमुख भाव का उद्रेक तथा उद्दीपन करे और उसको संचारिभावों द्वारा पुष्टकर रस रूप में परिणत करदे। संगीत से श्रौत तथा चित्र अथवा मूर्ति से चाक्षुष विभावों की ही सृष्टि होती है जो श्रोत्र या चक्षु इन्द्रिय द्वारा हमारे भीतर किसी भाव-विशेष को विभावित तथा पोषित करते हैं, परन्तु इन विभावों के एक-देशीय होने के कारण उस भाव के लिये रसत्व ग्रहण करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसके विपरीत नाट्य में श्रव्य और दृश्य दोनों तत्व होने से विभावों का क्षेत्र अधिक व्यापक तथा विस्तृत हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप भावों का विभावन तथा पोषण अधिक सरल हो जाता है; एक भाव को उद्दीप्त तथा पुष्ट करने के लिये वाद्य, गान, अभिनय, नृत्य आदि

नाट्य के सभी अङ्ग तदनुकूल विभाव उत्पन्न करने की श्रेष्ठतम चेष्टा करते हैं, जिससे विभावों की व्यापकता के साथ साथ उनकी तीव्रता भी बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त नाट्य के रूपकत्व द्वारा 'लोक-चरित' का प्रदर्शन करने के लिये जिस कथा, अवस्था या घटना-क्रम का सहारा लिया जाता है, वह उस भाव-विशेष के मूर्त तथा जीवित रूप को हमारे सामने खड़ा कर देता है, जिससे वह साधारण सहृदय के लिये भी ग्राह्य हो जाता है।

नाट्य के विभिन्न अङ्गों के सहयोग से एक ही रस, विशेष की निष्पत्ति अभीष्ट होने के कारण नाट्य में प्रयुक्त पद्य-गीतों को भी अपना स्वरूप उसी रस के अनुकुल ढालना पड़ता था जिसकी निष्पत्ति के लिये अन्य नाट्य-अंग प्रयत्नशील होते थे। अतएव भारतीय नाट्य-शास्त्र के बीसवें अध्यायमें 'वृत्तिविकल्प' का वर्णन किया गया है और अन्यत्र यह भी बतलाया गया है कि किसी रस के लिये किस वृत्ति को जागृत करना तथा किन किन गुणों या अलङ्कारों का प्रयोग करना चाहिये। शृङ्गार तथा करुण रस में माधुर्यगुणोत्पादक मृदुवर्णों तथा वीर रौद्र तथा वीभत्स में ओजगुणोत्पादक परुष वर्णों का अनुप्रास सहायक माना जाता है। इसी प्रकार रसानुकूल यमक का प्रयोग भी अनुप्रास का आनन्द दे सकता है और सरल उपमा, रूपक तथा दीपक से पद्य गीत की रसात्मकता में वृद्धि हो सकती है। यही कारण है कि संस्कृत पद्य में रस के अनुकूल ध्वनि रखने की प्रणाली अब तक चली आती है। रसानुरूप-शब्दयोजना का सब से सर्वोत्तम उदाहरण प्रसिद्ध शिवताण्डव स्तोत्र में मिल सकता है, जिसको आज भी कथक लोग अपने नृत्त में उतारते हैं और उसमें रस-निष्पत्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। यहां पर उसकी कुछ पंक्तियां दे देने से यह बात भलीभांति प्रकट की जा सकती है-

जटाटवीगलज्जल-प्रवाहपावितस्थले।
गलेऽवलम्ब्य लम्बितां भुजङ्गतुङ्गमालिकाम्
डमड्डमड्डमड्डमन्निनादवड्डमर्वयम्।
चकार चण्डताण्डवं तनोतु नः शिवः शिवम्।
जटा कटाह सम्भ्रमं भ्रमन्निलिम्पनिर्झरी।
विलोल वीचिवल्लरी विराजमान मूर्धनि।
धगद्धगज्ज वलल्ललाटपट्टपावके।
किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम।

परन्तु, नाट्य-गीतों में ऐसे अलंकारों का कोई स्थान नहीं हो सकता, जिनको समझाने में बुद्धि-प्रयोग करना पड़े मस्तिष्क पर जोर लगाना पड़े। इसीलिये भरत ने केवल उपमा, रूपक, दीपक, यमक एवं अनुप्रास का ही उल्लेख किया है और श्लेषआदि को पूर्णतया छोड़ दिया है, क्योंकि उक्त रस-नाट्य परम्परा में अलङ्कार-सौन्दर्य परखने के लिये मनन चिन्तन करने का अवकाश कहाँ।

इस प्रकार अनेक रसात्मक तत्वों को रस निष्पति के लिये उपयुक्त विभावों के रूप में एकत्र करके नाट्य न केवल अन्य काव्यों में श्रेष्ठ हो सकता था, अपितु धर्म-संस्थापन का एक प्रबल साधन भी हो सकता था, और सम्भवतः बहुत काल तक वह इस अवस्था में रहा भी। नाट्य शास्त्र* के अनुसार 'नाट्य' की सृष्टि वेदव्यवहार को सार्ववर्णिक बनाने के उद्देश्य से हुई और इसमें धर्म, अर्थ, यश आदि से सम्बन्ध रखने वाले सभी कर्मों की शिक्षा होती है। एक समय जिस प्रकार समाज में कृत्रिम वेदियों पर होने वाले अग्निष्टोमादि यज्ञ हमारे पिण्डाण्ड

---

* १, ११—१६।

तथा ब्रह्माण्ड की प्राकृतिक वेदियों में होने वाले आध्यात्मिक यज्ञ के प्रतीक तथा अभ्याख्यान होकर वैदिकज्ञान को सभी वर्णों के लिये प्रत्यक्ष करते थे, उसी प्रकार ऋग्वेद के सम्वाद सूक्तों को रूपकत्व प्रदान करके 'सोमक्रयण' आदि में अवस्थानुकृति करके अथवा 'महाव्रत' आदि में पद्य गीतों का नृत्त-समन्वित नाट्य करके अथवा महाभाष्य में उल्लिखित कंसबध' 'बलि-वध' जैसे लोक-चरितों का प्रदर्शन करके अथवा रामायण आदि का अभिनय करके 'वेद-ज्ञान या 'वेद-व्यवहार' को सभी वर्णों के लिये बोध-गम्य बनाया जाता था वेद-ज्ञान तथा वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक बनाने वाले प्रयत्नों का तत्वत: एक ही मार्ग था, और वह था अमूर्त को मूर्त- सूक्ष्म को स्थूल अन्त: को बाह्य: तथा अनिरुक्त को निरुक्त करना । इसके लिये, धारणा, ध्यान तथा समाधि का मार्ग तो केवल ब्राह्मणों या योगियों के लिये ही सम्भव था क्योंकि अन्य वर्ण (क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र) जीवन-संग्राम में ऐसे व्यस्त थे कि उनको न तो इतना समय ही था और न शक्ति ही जो वे साधना के इस सूक्ष्म-पथ को ग्रहण करते । वे तो प्रवृत्ति-मार्ग पर चलते हुए उक्त स्थूल-पथ का ही सहारा ले सकते थे। ब्राह्मणवर्णिक तथा सार्ववर्णिक मार्गों का यह भेद मनुष्यों के सामाजिक गुण, कर्म तथा शक्ति पर आश्रित था न कि उनकी जन्मजात परिस्थितियों पर। नाट्य आदि सभी काव्यों का उद्देश्य जनसाधारण को रसानुभूति के लिये तैयार करना तथा-वेद व्यवहार को सिखाना था। अत: उक्त सार्ववर्णिक आयोजन सार्वजनिक आयोजन होते थे, जिनमे आबालवृद्ध सब भाग लेते थे, जब कि ब्राह्मणवर्णिक वैयक्तिक साधना के लिये व्यक्तिगत तैयारियों की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति वेदाध्ययन द्वारा हो सकती थी; अत: यह साधना कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के ही वश की बात थी। अस्तु नाट्य जनता के लिये

था जो सम्भवतः जनता के दक्ष व्यक्तियों द्वारा आयोजित होता था।

(७) काव्य या साहित्य।

वैदिककाल में नाट्य के क्षेत्र में जो उदार दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है, वह सभी प्रकार के काव्यों के क्षेत्र में भी रहा होगा, क्योंकि उस समय समाज के किसी व्यवहार में संकीर्णता अथवा अनुदारता का परिचय नहीं मिलता। परन्तु, आगे चलकर यह बात न रह सकी और समाज में वैषम्य, भेदभाव, संकीर्णता तथा अनुदारता ने घर कर लिया। इस परिवर्तन का कारण सम्भवतः वे प्रतिबन्ध और प्रतिषेध हैं जिनकी सृष्टि सूत्रकाल में हुई।

आर्य-जाति के इतिहास में कोई ऐसी घटना अवश्य हुई प्रतीत होती है, जिसके कारण उसको अपनी संस्कृति-रक्षा के लिये कुछ सामाजिक प्रतिबन्धों की सृष्टि करनी पड़ी। गृह्यसूत्रों में स्त्रियों से यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन का अधिकार छीन लेने के विषय में शास्त्रार्थ मिलता है, जिसके परिणामस्वरूप ही सम्भवतः आगे चलकर उनका यह अधिकार छीन लिया गया। बहुत सम्भव है कि ऐसे ही किसी बाहरी प्रभाव से अपनी संस्कृति को बचाने के लिये ही वेद को लिखने तथा प्रतिलोम विवाह करने आदि का निषेध किया गया हो और आर्य लोग विजातियों को निम्नवर्ग में डालकर स्वयं उच्चवर्गीय बन गये हों। परन्तु, इस प्रश्न पर अत्यन्त गम्भीर विचार करने के पश्चात्, मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि बहुत प्राचीनकाल में ही हमारे देश में बाहर से कोई ऐसी जाति आई, जो वेश्या-वृत्ति पशु बलि आदि के साथ-साथ समाज में वर्गवाद तथा

जाति-प्रथा भी लाई, क्योंकि मैं अधिकार पूर्वक कह सकता हूँ ये बुराइयाँ वैदिक समाज में नहीं थी। कुरीतियों के इस आयात से ही, समाज में संकीर्णता तथा भेद-भाव की उत्पत्ति हुई और जो वर्ण' शब्द केवल वर्णनात्मक था और व्यक्तियों के 'गुण' कर्म' आदि का वर्णन भर करता था, वही अब ऐसे वर्ग के लिये प्रयुक्त होने लगा, जो जन्म तथा परम्परागत कर्म पर आश्रित था, चातुर्वर्ण्य का आधार गुण-कर्म के स्थान पर जन्म होने से बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया; समाज में समत्व के स्थान पर वैषम्य आगया और आर्य-अनार्य ऊँच-नीच, पवित्र-अपवित्र तथा स्पर्श्य-अस्पर्श्य के भेद-भाव का उदय हुआ। इस नई विचार-धारा का पुरानी विचारधारा से पर्याप्त संघर्ष होना स्वाभाविक था; परन्तु इस संघर्ष में विजय नई को ही प्राप्त हुई लगती है। क्योंकि यद्यपि दार्शनिक जगत् में श्रीमद्भगवद्-गीता द्वारा तथा काव्य (कला) के क्षेत्र में भरत-नाट्यशास्त्र जैसे ग्रन्थों द्वारा चातुर्वर्ण्य के पुराने आदर्श की पुनः स्थापना सी की गई है, परन्तु यथार्थतः इनका उद्देश्य दोनों विचार-धाराओं में समझौता कराना ही है, जो व्यवहार में स्थायी रूप से सफल न हो सकने के कारण नई लहर को न दबा सका।

इस परिवर्तन का प्रभाव काव्य मात्र पर पड़ा और नाट्य को तो इसने पूर्णतया बदल दिया। अतः नट, नर्तक तथा शैलूष आदि वैदिक* काल में पवित्र लोग समझे जाते हैं, परन्तु रामायण† तथा महाभारत में वही गर्हित तथा आचार-भ्रष्ट समझे जाते हैं। नाट्य के वातावरण की यह विकृति निश्चित रूप से सूत्रकाल में प्रारम्भ हो गई थी, क्योंकि नृत्य, गीत, वाद्य आदि

---

* वा० सं० ३०, ४; तै० ब्रा० ३, ४, २; कौ० ब्रा० २९, ५।

† म० भा० १३, ३३, १२ रा० २, ६७, १५, २, ६६, ३।

जो कौषीत की ब्राह्मण‡ में आदरणीय तथा पवित्र कलायें हैं-वही पारस्कर× गृह्य सूत्र में द्विज-वर्णों के लिये सर्वथा त्याज्य समझी गई हैं नाट्य की यह दुरवस्था विद्व-समाज (ब्राह्मणों) की अवहेलना का कारण तथा परिणाम दोनों ही रहे होंगे। वर्गवाद में विश्वास करने के कारण, विद्वद्वर्ग ने निम्नवर्ग को ऊपर उठाकर अपने स्तर में लाने की अपेक्षा, उनसे पृथक होना अधिक अच्छा समझा; पतित तथा आचारभ्रष्ट नटों को सुधारने की अपेक्षा उन्होंने अपने लिये पृथक काव्य की सृष्टि करना अच्छा समझा जिससे वे उस गर्हित वातावरण से बचे रह सकें। इसलिये जिस 'काव्य' शब्द का प्रयोग कला मात्र के लिये होता था, वह केवल विद्वानों की 'कला के लिये ही प्रयुक्त होने लगा, जिसको वे लोग उक्त अ-हित नाट्यादि के विपरीत स-हित बनाने की इच्छा से 'साहित्य' कहने लगे।

इस साहित्य या काव्य के भी श्रव्य, दृश्य तथा मिश्र भेद ही रहे, परन्तु इनके अन्तर्गत लिखित काव्य ही हो सकता था, क्योंकि मूर्ति, संगीत, चित्र तथा नाट्य आदि तो निम्नवर्ग के गर्हित वातावरण में थे जिससे दूर रहना अधिक अच्छा समझा जाता था। श्रव्य काव्य में गद्य तथा पद्य दोनों का अन्तर्भाव था और मिश्र में दोनों का मिश्रण। दृश्य काव्य सम्भवतः बहुत काल तक विद्वानों द्वारा उपेक्षित ही रहा; परन्तु जैसा वात्स्यायन के काम-सूत्र से पता चलता है, लगभग चौथी या पांचवी शताब्दी ई० पू० में किसी न किसा प्रकार के सुरुचिपूर्ण तथा स-हित श्रव्य-काव्य का होना नागरिक जीवन के लिये अनिवार्य

---

‡ २९, ५।
× २. ७, ३।

समझा जाता था। इसी प्रवृत्ति के अनुसार, नाट्यशास्त्र में भरत-मुनि ने गीत, वाद्य, रूपक तथा अभिनय आदि को सुसंस्कृत रुचि के अनुकूल तथा वैदिक सदाचार के अनुरूप बना के सहित श्रव्य काव्य की परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित किया। परन्तु, कालान्तर में विद्वद्वर्ग ने नाट्य के अन्य प्रकारों को छोड़कर केवल रूपकों का ही अधिक अपनाया, क्योंकि इसमें आदर्श लोक-चरितों का चित्रण होने के कारण सदाचार की पुष्टि अधिक सम्भव थी। अतएव श्रव्य-काव्य में एक रूपक-परम्परा चल पड़ी, जो वर्तमानयुग तक चली जा रही है।

साहित्यवादी विद्वानों के हाथों में काव्य ने जब नया रूप पाया, तो उसका केवल क्षेत्र ही सीमित नहीं हो गया, अपितु उसके परिमित कलेवर में बहने वाले 'रक्त' को स्वस्थ तथा शुद्ध करने के लिये 'शल्य-चिकित्सा' का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया। 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' रस को काव्य का लक्ष्य मनाते हुए, उन्होंने तद्विरोधी बातों को पूर्णतया निकाल फेंका। यही कारण है कि 'नाट्य' के विभिन्न अङ्गों में, भारतीय नाट्यशास्त्र में सभी के लिये वेदानुकूलता देने का प्रयत्न होने पर भी, केवल 'रूपक' ही अपनी स्थिति को अक्षुण्ण रख सका; और रूपकों में भी उन्हीं प्रकारों का प्रचार अधिक हुआ, जो सुरुचि, सदाचार तथा मर्यादा को अच्छे प्रकार निभा सकते थे। अतएव नाट्यशास्त्र में 'समवकार' आदि के लिये बहुत से 'बन्धकुटिलानि' वर्जित कर दिये गये और 'प्रहसन' में केवल 'लोकोपचारयुक्ता वार्ता' को स्थान दिया गया। इसी मर्यादावादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप नाटक-नाटिकाओं के अतिरिक्त रूपक के अन्य प्रकारों को पनपने का अवसर कम मिला।

साहित्यवाद या मर्यादावाद की इस काँट-छाँट के होते हुए भी, काव्य ने अपने नये रूप में पुरानी सभी स्वस्थ प्रवृत्तियों को प्रायः बनाये रक्खा। रस-निष्पत्ति अन्तिम ध्येय होने के कारण तदनुकूल 'गुणों' तथा 'ध्वनियों का काव्य में होना पहले के समान ही चलता रहा है। यही कारण है कि न केवल संस्कृत पद्य-काव्यों में अपितु गद्य-काव्यों में भी विषय तथा परिस्थिति के अनुकूल भाषण-ध्वनियों का प्रयोग करने का प्रयत्न किया जाता है। पद्य की संगीतात्मकता तथा नाट्य में गीत और वाद्य का प्रचुर प्रयोग भी इसीलिये बना रहा। नाट्य' के सभी अङ्ग 'नाटक' में होने से, उसको रस-निष्पत्ति' के लिये सब से अधिक उपयुक्त समझा गया; इसलिये संस्कृत में अन्य रूपकों की अपेक्षा नाटक ही अधिक लिखे गये।

काव्य की परिधि सीमित होने पर पद्य तथा गद्य को विकसित होने का अवसर मिला, क्योंकि अब उन पर से 'नाट्य' का अङ्कुश हट गया और उनकी रचना स्वतन्त्ररूप से होने लगी। अब नाट्यशास्त्र में उल्लिखित चार साधारण अलङ्कारों के अतिरिक्त अन्य अलङ्कारों का भी प्रयोग होने लगा। नाट्य के दासत्व में रहते हुए पद्य में कोई प्रबन्धात्मकता" सम्भव नहीं थी; स्वतन्त्र होते ही उसमें नये नये प्रबन्ध-स्वरूपों की सृष्टि होने लगी। अब पद्य केवल 'श्रव्य' न रही, वह लिखी तथा पढ़ी भी जाती थी; इसीलिये उसमें बुद्धितत्व के लिये अधिक अवकाश था।

गद्य के लिये तो यह स्वतन्त्रता अत्यन्त लाभप्रद हुई। नाट्य के दासत्व में रहते हुए तो उसे काव्य-रूप ग्रहण करने का अवसर ही न मिलता था। परन्तु अब उसने कथा, कहानी, आख्यान तथा आख्यायिका आदि के रूप धारण किये और पद्य के सभी शृङ्गार, सौष्ठव तथा शक्ति-विभव को प्राप्त किया। परन्तु विद्वानों

के हाथ में पड़कर जहाँ गद्यकाव्य तथा पद्य-काव्य को स्वतन्त्र विकास का अवसर मिला वहां उसमें बुद्धितत्व का प्राधान्य भी बढ़ता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कभी कभी तो बौद्धिक कलाबाजी को ही काव्य समझ लिया गया और रस-निष्पत्ति का लक्ष्य केवल 'दम्भ' मात्र रह गया।

(८) साहित्य काव्य के भेद।

काव्यरस का विवेचन करते हुए, हम देख चुके हैं कि सभी 'कोशों' में आनन्दस्वरूप आत्मा की अभिव्यक्ति समान नहीं होती। पाँचों कोशों में रसानुभूति की अवस्थाओं को क्रमशः शुद्ध-रस (ब्रह्मानन्द) काव्य-रस (ब्रह्मानन्द सहोदर), रस-नानात्व, स्थायीभाव तथा संचारी भाव। कहा जा सकता है जिस कवि की आत्मानुभूति जिस कोश की होगी, उसकी अभिव्यक्ति भी उसी स्तर की होगी। अतः काव्य के भी इस दृष्टि से पांच भेद किये जा सकते हैं। राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में इसी बात को ध्यान में रखकर काव्य के क्रमशः स्वायंभुवं, ऐश्वरं, आर्षम्, आर्षीकम तथा आर्षीपुत्रकम् नाम से पाँच भेद किये हैं। एक दूसरा विभाजन वैदिक साहित्य में अभिप्रेत है; उसके अनुसार प्रत्येक कोश की अनुभूति प्राप्त किया हुआ कवि तथा उसके काव्य का वर्णन परस्पर-विलोम धातुओं द्वारा किया जाता है-

कोश	कवि	काव्य
१-आनन्दमय	देव (दिव् धातु)	वेद (विद् धातु)
२-विज्ञानमय	कवि (कव् धातु)	वाक् (वक् धातु)
३-मनोमय	मनीषी (मन् धातु)	नाम (नम् धातु)
	या	
	मनः (,,)	नमः (,,)
४-प्राणमय	परिभू या प्रतिभू	प्रभा या प्रतिभा
५-अन्नमय	पुर	रूप

(६) आदि कवि और आदि कविता

भारतीय परम्परा के अनुसार बाल्मीकि (वाल्मीक) आदि कवि माने जाते हैं । कहा जाता है कि वे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे परन्तु बचपन में ही उन्हें माता-पिता ने त्याग दिया, कुछ पर्वतीय लुटेरों ने उन्हें शरण दी और लूट-पाट का पेशा सिखाया, जिससे वे जीवन निर्वाह करने लगे । एक दिन उन्होंने एक साधु को देखा । उसके पास आते ही उन्होंने कहा, "जो कुछ हो, वह रख दो; नहीं तो जीवन से हाथ धोना पड़ेगा ।" साधु ने बाल्मीक को यह जानने के लिये घर भेजा कि उनके अन्य सम्बन्धी इन कुकर्मों में साथी है या नहीं । जब वह अपने घर पहुंचे, तो उनका भ्रम जाता रहा । स्त्री और बच्चे तक उनके कुकर्मों में साथ देने के लिये तैयार न थे । साधु ने उन्हें उल्टा राम नाम जपने का उपदेश दिया और स्वयं यहाँ से चला गया । वर्षों तक वे राम का नाम जपते रहे । बैठे-बैठे उनके शरीर पर एक भारी बाँबी बन गई । अन्त में वहाँ साधु आया और उसने बल्मीक (बाँबी) में से उन्हें निकाला । बल्मीक में से निकलने के कारण उनका नाम वाल्मीकि हो गया और वे बड़े भारी ऋषि हो गये । एक दिन जब वे स्नान कर रहे थे, तो उन्होंने देखा कि एक निषाद ने क्रौञ्च-मिथुन में से एक को मार डाला है । ऋषि के हृदय में मृत पक्षी के लिये करुणा उमड़ पड़ी । घातक पर क्रोध करके उन्होंने उसे शाप दिया । यह शाप अनायास ही एक श्लोक के रूप में उनके मुँह से निकल पड़ा । यह सब से पहला कविता थी । ब्रह्माजी के कहने से तब महर्षि वाल्मीकि ने रामायण नाम का एक काव्य लिखा ।

यह एक छोटीसी कथा है, जो आदि कवि तथा आदि कविता के विषय में कही जाती है । साधु-सन्तों के सम्बन्ध में अलौकिक

घटनाओं को सुनने के हम अभ्यस्त हैं; अतः वाल्मीकि के जीवन की घटनाओं पर हम भले ही विश्वास करलें, परन्तु यह विश्वास करना कि वाल्मीकि से पहले कविता ही नहीं थी और सब से पहले उन्होंने ही कविता की, सब के लिये सम्भव नहीं। हम देखते हैं कि रामायण के बहुत पहले ही एक विशाल वैदिक साहित्य विद्यमान था। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार यदि चार संहिताओं को अपौरुषेय माना जाय, तो भी तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद साहित्य में जो कवित्वपूर्ण स्थल भरे पड़े हैं, उनको देखकर रामायण-कार को आदि कवि नहीं माना जा सकता। यदि सारे वैदिक साहित्य को ही अपौरुषेय मानलें, तब भी भाषा तथा साहित्य के क्रमिक विकास में विश्वास रखने वाला वर्तमान युग यह कभी नहीं मान सकता कि रामायण जैसे उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि यकायक बिना किसी पूर्व परम्परा के होगई। थोड़ी देर के लिये यह भी मानलें कि अलौकिक-सत्ता-सम्पन्न ऋषियों के लिये इस प्रकार के चमत्कार कर दिखाना कोई असम्भव नहीं है, तो भी यह कैसे सम्भव है कि उससे पहले मनुष्य, हृदय रखते हुए भी अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में न करता कराता हो और फलतः किसी न किसी प्रकार के काव्य का निर्माण न करता हो।

जब रसात्मकता कविता का प्रधान गुण है और यह सचमुच 'ब्रह्मस्वाद-सहोदर' है, तो कविता का प्रारम्भ तभी से मानना पड़ेगा जब से मनुष्य में रसानुभूति की शक्ति है, क्योंकि वह अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति किये बिना नहीं रह सकता, चाहे वह अभिव्यक्ति गद्य में हो या पद्य में, अनुष्टुप में हो या त्रिष्टुप में। रेडियो, रेल, तार आदि वस्तुओं के विषय में कहा

जा सकता है कि उनका जन्म अमुक देश में, अमुक काल में और अमुक व्यक्ति के द्वारा हुआ क्योंकि ये दृश्य-मूला वस्तुयें हैं, जिनका समाज ने अपने जीवन काल में न केवल प्रारम्भ और विकास देखा है, अपितु उनका पूर्व-अभाव भी देखा है। परन्तु, कविता तो अनुभूति-मूला होने से इस पदार्थ-वर्ग में नहीं आ सकती; वह तो इच्छा, ज्ञान, क्रिया, भाषण, प्राण, मन आदि तत्वों के वर्ग में आती हैं, जिनका व्यक्ति तथा समाज के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और जो किसी न किसी रूप में तब से हैं. जब से व्यक्ति या समाज का अस्तित्व है। इसलिये समाज अथवा भाषण, भाषा आदि सामाजिक सम्पत्तियों के इतिहास के इतिहास में कविता का प्रारम्भ कब और किस के द्वारा हुआ यह बतलाना उतना ही असम्भव है, जितना प्राण, मन अथवा समाज आदि के उत्पत्तिकाल को बतलाना।

परन्तु, इससे यह अभिप्राय नहीं कि आदि कवि तथा आदि कविता के विषय में जो परम्परागत कथा चली आई है, वह निरर्थक है। वस्तुतः इतिहास तथा काल के विषय में हमने जो दूषित धारणा बना रक्खी है उसके कारण हम उसे समझ ही नहीं पाते। हमने समझ रक्खा है कि पदार्थ-विज्ञान के जगत् के अतिरिक्त कोई जगत् ही नहीं और न उसके प्रेरक काल से भिन्न कोई काल। यथार्थ में, जैसे पिण्डाण्ड स्थूल शरीर के अन्तर्गत आने वाले अन्नरसमय कोश तथा प्राणमय कोश तक ही समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी केवल पिण्डात्मक रसात्मक, वायव्य तथा वैद्युत पदार्थों से निर्मित स्थूल जगत् तक ही सीमित नहीं है। स्थूल शरीर एवं स्थूल-जगत् के परे सूक्ष्म-शरीर एवँ सूक्ष्म जगत् भी है जिसको मनोमयकोश' कहा जाता है और जिसमें उत्पन्न होकर काल स्थूल-जगत् में क्रीड़ा कर रहा

है। मनोमय कोश से भी परे विज्ञानमयकोश' है, जिसमें कारण-शरीर और कारण-जगत आ जाते हैं। इसी कोश में 'महाकाल' की क्रीड़ा दिखाई पड़ती है, जो मनोमय-कोश में सुविकसितहोकर स्थूल-शरीर तथा स्थूल-जगत् केकाल का रूप धारण कर लेता है। बहुत सी वस्तुयें, जो हमें स्थूल-जगत में अनन्त और अनादि सी दिखलाई पड़ती है, वास्तव में इस कारण जगत तथा महाकाल में सान्त और सादि हैं। रसानुभूति तथा तज्जन्य कवित का आदि भी हमें यहीं देखना चाहिये।

अतः आदि-कविता की उत्पत्ति किसी व्यक्ति-विशेष से न मानकर जीव से मानना पड़ेगी। जीव ब्राह्मण अथवा ब्रह्म के कुल का है, परन्तु पितृ-वियुक्त होकर इस शरीर में भटकता है। शरीर में अनेक पर्व (संयुज्य भाग) हैं; अतः उसे आध्यात्मिक रूपकों में पर्वत (मू० पर्ववत्) भी कहा जाता है। इसी पर्वत पर रहने वाले काम, क्रोध आदि लुटेरे ही उस ब्राह्मण सन्तान को अपनाते हैं और उसे अपना लूट-पाट का पेशा सिखलाते है। अन्त में परमसाधु परमेश्वर की कृपा से उसे ज्ञान होता है कि जिस माया तथा तज्जनित विषयों के लिये वह काम, क्रोधादि लुटेरों का कुत्सित पेशा करता है, वे भी उसका साथ देने को उद्यत नहीं। इस ज्ञान से उसे वैराग्य उत्पन्न होता है और सुमार्ग पर चलने की तीव्र इच्छा जाग पड़ती है। साधु उसको उल्टे राम नाम का उपदेश करता है, जिसके द्वारा वह ब्रह्म समान हो जाता है। यही महर्षि वाल्मीक हैं, जिनके विषय में तुलसीदास जी ने कहा है :—

उल्टा नाम जपत जग जाना। वाल्मीक भए ब्रह्म समाना॥

परन्तु, ब्रह्म-समान होने से पहले उन्हें स्थूल-शरीर तथा सूक्ष्म-शरीर की विशाल वल्मीक (बाँबी) को हटाना पड़ता है, तब कहीं वे वाल्मीक होकर विज्ञानमय कोश या कारण-शरीर में पहुंचकर उक्त गति को पाते हैं। ब्रह्म-समानता को ही रस के प्रसंग में ब्रह्म सहोदरता कहा गया है और इसी को प्राप्त करके तपोशुद्ध जीव आनन्द-मयकोश की 'रामायण' को समझता है, अनुभव करता है और श्लोकबद्ध करने में समर्थ होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विज्ञानमय कोश में ही 'मधुमती भूमिका' है और वहीं पहुंचकर जीव यथार्थ 'कवि' कहलाता है।

यही आदि कवि की अवस्था है। इस अवस्था तक पहुंचे हुए योगी कवि में द्वैत-भाव नहीं रह जाता। इससे नीचे स्थूल तथा सूक्ष्म-शरीर में जीव तथा माया आलिङ्गनबद्ध से (संपरिष्वक्तौ इव) कहे जाते थे, उन "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" में से एक मिट जाता है और केवल 'अन्यदिव' की अनुभूति मात्र रह जाती है—'यत्रवाऽन्यदिव स्यात्तत्राऽन्योन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदऽन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्योऽन्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात्"* इस 'अन्यदिव' की अनुभूति यथार्थ 'द्वैत' नहीं है; यह तो 'अलंकार' मात्र है, जिसमें 'स्व' ही 'इदम्' रूप में रहता है:—

'अथातोऽहंकारादेशएवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति।......स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स्वराट्।†

---

* वृ० उ० ४, ३, ३१।

† वही।

आदिकवि के रूपक में, इसी जोड़े को क्रौञ्च-मिथुन कहा गया है, जिसमें से एक के वध होने पर, ऋषि वाल्मीक द्वारा आदि-कविता को जन्म मिलता है। क्रौञ्च शब्द ध्वन्यनुकरण-मूलक है, और जिस पक्षि-विशेष को यह नाम दिया गया है, वह शब्द भी एसा ही करता है। योगी भी ध्यानावस्था में अनेक प्रकार के शब्द सुनता हुआ, एक ऐसे शब्द पर भी पहुँचता है, जिसको 'ह्रीं' क्रीं; क्रौञ् आदि कहा गया है और जो सुनने में क्रौञ्च रव सा लगता है। अतः इस अवस्था में 'जीव-माया' को क्रौञ्च-मिथुन कहना पूर्णतया उचित है। इसका वध करने के लिये योगी की, दोनों भौंहों से जो एक धनुष बनता है, उसको अपनाना पड़ता है; इस धनुष में प्रत्यञ्चा नहीं होती (तु० क० जामें परच नहीं है रे—कबीर) नासिकाग्र से लेकर दोनों भौंहों* के बीच में स्थित ध्यान-बिन्दु की ओर चित्त एकाग्र करते रहने को शर-संधान करना कहते हैं। स्थूल-शरीर में क्रीड़ा करने वाला मन रूपी व्याध इसी शर-संधान द्वारा एक क्रौञ्च-पक्षी को मार, गिराता है; जिसके फलस्वरूप ऋषि द्वारा शापित होकर वह (मन) सदैव अशान्त तथा अस्थिर रहता है।

इस शर-संधान द्वारा लक्ष्य-बेध तभी हो सकता है, जब राम-नाम का उल्टा जप कर लिया जाय। उल्टे राम-नाम का अर्थ केवल 'मरा' समझा जाता है, परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ इससे अधिक है। हम ऊपर देख चुके हैं कि आत्मा को विभिन्न अवस्थाओं में देव, कवि मन, प्रतिभू तथा पुर कहा जाता है और उसकी स्वाभिव्यक्ति को क्रमशः वेद वाक, नाम, प्रतिभा तथा रूप कहा जाता है। वास्तव में जिस शब्द से किसी के 'स्व' की अभिव्यक्ति होती है वही उसका नाम है, अतः सामान्यतः आत्मा

* भ० गी० ८ १०।

की इन सभी 'अभिव्यक्तियों को 'नाम' कहा जा सकता है। इस नाम का सीधा क्रम तो वेद, वाक् नाम तथा रूप है, परन्तु उल्टे क्रम में रूप, नाम वाक् तथा वेद हैं। अतः स्थूल-जगत के 'रूप से 'वेद की ओर जाने को ही उल्टा जप कहते हैं। जो जीव स्थूल जगत के झंझटों में फँसा है, उसको ऊपर उठने का एक यही मार्ग है कि वह इस उल्टे नाम का सहारा लेकर शनैः शनैः स्थूल-जगत् से सूक्ष्म तथा कारण जगत् की ओर अग्रसर हो। राम का उल्टा 'मरा' अथवा 'सोऽहं' का उल्टा 'हँसो' जपने का यही अर्थ है। सीधे नाम में शक्तिमान से शक्ति का प्रवाह होता है, परन्तु उल्टे में शक्ति से शक्तिमान की ओर जाना पड़ता है। इसलिये ब्रह्म के नाम के पहले उसकी शक्ति का नाम रख देने से भी उल्टे नाम का सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है। अतः सीताराम राधाकृष्ण, पार्वती-परमेश्वर आदि का भी जप किया जा सकता है। परन्तु जप में नाम का उच्चारण मात्र पर्याप्त नहीं; नामोच्चारण तो केवल संयम, ध्यान समाधि द्वारा स्थूल जगत् से ऊपर उठने का सहारा मात्र है।

आदि-कवि-सम्बन्धी कथा की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि इसमें भारतीय साहित्य का देश-काल गत इतिहास नहीं मिलता। इस कथा से यदि रामायणकार के विषय में हमें कुछ भी पता चलता है तो यही कि रामायण के लेखक एक परम योगी थे और रामायण में उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह एक साधारण कथामात्र नहीं है, उसमें उसकी उच्च आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति भी है। बहुत सम्भव है कि रामायणकार का नाम पहले से ही वाल्मीक रहा हो, जिससे 'वाल्मीक' बाँबी) के रूपक में उसकी संगति बैठ गई, परन्तु स्थूल-जगत् के आवरण को बाँबी के रूपक द्वारा प्रकट करने की परिपाटी च्यवन-कथा में भी मिलती है और सम्भतः बहुत पुरानी है।

की उत्पत्ति होती है, जिसे व्याकृता ध्वनि या केवल ध्वनि भी कहते हैं‡ जो बुद्धि, प्राण आदि में होती हुई स्थूल अङ्गों द्वारा व्यक्त होती है:—

तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता ।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रकाशते ।

(वा० प० १, ११७)

वास्तविक विकार इसी नाद या वाक् में होता है और इसी से आवृत होने पर अविकारी स्फोटात्मा भी विकारी प्रतीत होता है। × अतः सूत-संहिता स्फोटात्मा को प्रणव या ओंकार के नाम से दो प्रकार का बतलाती है—एक पर या ब्रह्म-रूप, दूसरा अपर या शब्द रूप* । शब्द-रूप स्फोट या प्रणव ही नाद या वाक् से युक्त होता है और इच्छा, ज्ञान, क्रिया की दृष्टि से विविध रूप में व्यक्त होता हुआ नाना वर्णों की सृष्टि करता है:—

शृणोति य इमं स्फोटं सुप्ते श्रोत्रे च शून्यदृक्
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥
स्वधाम्नो ब्राह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः ।
स सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम् ॥
तस्य ह्यासन् त्रयोवर्णा अकाराद्याभृगूद्वह
धार्यन्ते यैस्त्रयो गुणानामर्थवृत्तयः ।

---

‡ शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्ते र्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्नभिद्यते । (द्वी० प० १-३०)

× स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु ।
प्राकृतस्य ध्वनेःकाल शब्दस्येत्युपचर्यते ॥

* नादस्य क्रमजन्मत्वात् न पूर्वो नापरश्च सः ।
अक्रमः क्रमरूपेणभेदवानिव जायते ॥

ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद्भगवानजः ।
अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्शदीर्घह्रस्वादि लक्षणम् ॥

(ग) नाद, अनाहतनाद तथा महानाद

शैवागम के अनुसार सच्चिदानन्द शिव से शक्ति, शक्ति से कारणनाद तथा नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है (आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुः समुद्भवः); यहाँ पर नाद को 'महानाद' कहा जाता है और 'अष्टप्रकरण' के अनुसार 'बिन्दु' को अनाहतनाद कहा जाता है (बिन्दुरेव समाख्यातो व्योमनाहतमित्यपि) इसी अनाहत नाद या बिन्दु से 'कार्य नाद' पैदा होता है (भिद्यमानात्पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्), जो नाना वर्णों में गद्य-पद्यात्मक रूप में प्रकट हो जाता है (वर्णात्मनाविर्भवति गद्य-पद्यादिभेदतः)

कुछ शैवागमों में इसी बात को दूसरे ढंग से कहा गया है। उनके अनुसार शिव के साथ उसकी शक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध है; इस शक्ति का नाम ज्ञान-शक्ति है जो सारी अभिव्यक्ति का निमित्त कारण है, शिव-शक्ति के संयुक्त तत्व से परिग्रह-शक्ति का जन्म होता है, जिसका नाम क्रिया शक्ति भी है। वही बिन्दु है, जो अभिव्यक्ति का उपादान कारण है। यह शुद्ध और अशुद्ध-भेद से दो प्रकार का है; शुद्ध बिन्दु को 'महामाया' तथा अशुद्ध बिन्दु को 'माया' भी कहते हैं। शक्ति तथा बिन्दु के सम्बन्ध को विकल्प अथवा भेद-ज्ञान कहते हैं।

---

† परः परतरं ब्रह्मज्ञानानन्दादिलक्षणम् ।
प्रकर्षेण प्रणवः यस्मात् परं ब्रह्म स्वभावतः ॥
अपरः प्रणवः साक्षाच्छब्दस्य सुनिर्मलः ।
प्रकर्षेण नवत्वस्य हेतुत्वात्प्रणवः स्मृतः ॥

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथाचादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगत्थं शोकः श्लोकत्वमागता ॥

परन्तु, काव्य एक अरण्यरोदन नहीं है। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसे श्रोता की अपेक्षा है; इसमें ऐसी ध्वनि है, जो प्रतिध्वनि प्राप्ति के लिये उपयुक्त स्थल चाहती है। चाहे कवि 'स्वान्तः सुखाय' ही क्यों न लिखे, उसमें वह सामर्थ्य तथा उद्देश्य निहित रहता है जिससे कवि का प्रेरक भाव श्रोता या पाठक के हृदय में भी उसी भाव को उत्पन्न कर देता है। श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री ने वाल्मीकि की कविता के विषय में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं:—

"In the second canto of Balakanda, it is unmistakably suggested, through the Soka=Sloka equation and through Valmik's own observation about his own Poetry in 1-2-18, that the true poetry is not made but is a beautiful and spontaneous emanation from the fountain of rasa and that the life and growth of genuine poetry depend upon a delightful synthesis of artist and the art-critic, of kavi and Sahrdaya, of charm and response, According to this theory of poetry, kavya is not necessarily ornate poetry or court poetry, as some alien sanskritists would render the term, but it is genuine poetry."

अतः काव्य-प्रेरणा के उद्गम में, जहाँ आन्तरिक 'शक्ति' तथा बाह्य विभाव सहायक होते हैं, वहाँ श्रोता-सापेक्षता भी उसका एक मुख्य तत्व है। श्रोता-सापेक्षता को ही हम समाज-सापेक्षता कह

सकते हैं। वाल्मीक का शोक श्लोकत्व को कभी प्राप्त न होता, यदि उनके पास ही क्रौञ्च-घातक व्याध तथा उनके शिष्यगण सुनने वाले न होते:—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
तस्यैवं ब्रुवन्तश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः।
शोकार्त्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया॥
चिन्तयन्स महाप्राज्ञश्चकार मतिमान्मतिम्।
शिष्यं चैवाब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुंगवः।
पादबद्धोऽक्षरसमस्तंत्रीलयसमन्वितः।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोक भवतु नान्यथाः।
शिष्यस्तु तस्य ब्रुवतो मुनेर्वाक्यमनुत्तमम्।
प्रतिजग्राह संहृष्टस्तस्य तुष्टोऽभवद्गुरुः॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि न केवल समाज ने उनकी अभिव्यक्ति को संभव बनाया, प्रत्युत उसके द्वारा उस अभिव्यक्ति के "प्रतिग्रहण' से वाल्मीक को परितोष भी हुआ।

अब प्रश्न यह होता है कि विभावों से हम क्यों आकर्षित होते हैं और हमारी अभिव्यक्ति समाज-सापेक्ष क्यों है। इस प्रश्न के उत्तर के लिये हमें विभावों की तात्विक रचना पर विचार करना आवश्यक होगा। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की लोकोक्ति को भारतीय दर्शन का प्रामाणिक 'सूत्र' कहा जा सकता है। अतः पिण्डाण्ड के अनुसार ब्रह्माण्ड में भी यही पांच कोश हैं और यहां भी 'विज्ञानमय' जगत के तथा सूक्ष्म अन्यदिव' से स्थूल-जगत के स्थूलत्व तथा अनेकत्व का विकास हुआ है। यह कहा

जा चुका है कि ज्यों-ज्यों स्थूलता (माया) का आवरण बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों 'रस-स्वरूप' आत्मा परोक्ष होता जाता है और उसका रस माया-शवलित होकर सुख दुखादि अनेक रूपों में प्रकट होता जाता है। साथ ही माया इस परोक्ष आत्मा के सौन्दर्य्य या रस को शब्द-रूप-रस-गन्धस्पर्शात्मक जगत के रूप में व्यक्त करके, उसको भोगने के लिये श्रोत्रचक्षुरसनाघ्राणत्वगात्मक ऐन्द्रिय जगत का निर्माण करती है; इन दोनों जगतों में से एक में आकर्षण है, दूसरे में चाह; एक में काम है दूसरे में रति, एक में इच्छा है दूसरे में तृप्ति। इस द्वैत-सिद्धान्त के द्वारा जहाँ एक को अनेक करके एक पूर्ण को अनेक अपूर्णों में विभक्त कर दिया जाता है, वहाँ इन अपूर्णों के भीतर अपने से बाहर पूर्णता को खोजने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाती है इसके फलस्वरूप एक ओर हम जड़ बाह्य-जगत के विभावों से आकर्षित और प्रभावित होते हैं तो दूसरी ओर विश्व के चेतन अन्तर्जगत के साथ उस आकर्षण तथा प्रभाव का आस्वादन करना चाहते हैं। अतएव कवि जड़ चेतन के शब्द, रूप, रस, गन्ध स्पर्श से प्रभावित होकर जहाँ बाह्य जगत में खोई हुई पूर्णता देखता है, वहाँ उससे विभावित भाव की अभिव्यक्ति करके 'सहृदय' (समान हृदय) प्राणियों के साथ तादात्म्य स्थापित करके पूर्णत्व लाभ करना भी चाहता है। अतः किन्हीं अंशों में अडलर का यह कहना ठीक है कि कवितादि सारी कलायें अपूर्ण मनुष्य के पूर्ण होने के प्रयास की द्योतक हैं।

भारतीय महाकाव्य

(क) परम्परागत लक्षण

हम देख चुके हैं कि जब काव्य 'साहित्य' हुआ, तब उसके क्षेत्र की सीमा भी संकुचित हो गई। इस संकुचित अर्थ में भी श्रव्य काव्य के तीन भेद हैं—गद्य, पद्य तथा मिश्र*। इनमें से पद्य काव्य भी तीन प्रकार के होते हैं (१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य तथा (३) मुक्तक काव्य। छठी शताब्दी में दण्डी ने अपने काव्यादर्श में महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार दिये हैं:—

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्।
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम्।
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिननायकाभ्युदयैरपि।
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभिः।
सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृतिः।

अतः इसके अनुसार महाकाव्य ऐसे सर्गों में विभक्त होना चाहिये जो बहुत बड़े न हों। इसके आमुख में आशीर्वाद, देव-

---

* पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्—दंडी।

नमस्कार अथवा ग्रन्थ के कथावस्तु को सूचित करने वाले पद्य होने चाहिये। इसका कथानक इतिहास कथा या अन्य सद्वृत्त पर आश्रित होना चाहिये। महाकाव्य में धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष चारों पुरुषार्थों का उल्लेख होना चाहिये। उसका नायक चतुर और उदात्त हो। नगर, समुद्र पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय तथा सूर्योदय के रूप में प्रकृति-वर्णन हो. उद्यान-विहार, जल-क्रीड़ा, मधु-पान आदि के रूप में उत्सव वर्णन हो; विप्रलम्भ, विवाह, कुमार-जन्म आदि रूप में पारिवरिक जीवन का चित्रण हो तथा मन्त्रणा, दूतप्रयाण, युद्ध (आजि) नायकाभ्युदय आदि के रूप में सामाजिक अथवा राजनीतिक जीवन का चित्रण हो। महा-काव्य आकर में छोटा नहीं होना चाहिये। अलङ्कार, रस तथा भाव का होना आवश्यक है, क्योंकि 'लोकरञ्जन' उसका मुख्य लक्षण है। उसके सर्ग भिन्नवृत्त होने चाहिये और वह नाटकीय संधियों तथा श्रव्यत्व गुण से युक्त होना चाहिये। इस प्रकार का काव्य कल्पान्तरस्थायी होता है।

लगभग यही लक्षण अग्निपुराण (३३०) काव्यालङ्कार (१) सरस्वतीकण्ठाभरण (५) आदि में भी दिये गये हैं; परन्तु सब से अधिक विस्तार के साथ उनका निरूपण पन्द्रहवीं शताब्दी में विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में किया है, जिसको तुलना-त्मक अध्ययन के लिये यहाँ दिया जाता है:—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एक वंश-भवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक-संधयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत ।
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥
रणप्रयाणोपयमनन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्यवा ।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्ग नाम तु ॥

अतः साहित्य-दर्पण के अनुसार महाकाव्य सर्गबन्ध होना चाहिये, जिसमें कम से कम आठ सर्ग हों, जो न बहुत छोटे और न अति बड़े ही हों। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द हो, जो अन्त में बदलना चाहिये; कभी कभी एक सर्ग नाना छन्दों में भी हो सकता है। हर एक सर्ग के अन्त में भावी सर्ग के विषय की सूचना दे देनी चाहिये नायक कोई सुर या कुलीन क्षत्रिय हो, जिसमें 'धीरोदात्त' के गुण हों; और धीरोदात्त* होने के लिये महासत्व, अतिगम्भीर, क्षमावान, आत्मश्लाघाहीन, स्थिर तथा अहंकार को छिपाने वाला होना आवश्यक है। एक ही वंश के कुलीन राजा हों तो एक से अधिक नायक भी हो सकते हैं।

---

* महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः स्थिरोनिगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः (द० रू० २)

प्रधान रस या तो शृङ्गार होना चाहिये या वीर अथवा शान्त; दूसरे रस केवल सहायक मात्र होने चाहिये। कथावस्तु के संगठन में नाटकीय संधियों का प्रयोग आवश्यक है। कथानक या तो ऐतिहासिक हो या उसमें किसी सज्जन का चरित होना चाहिये। महाकाव्य का लक्ष्य चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति है और उसके प्रारम्भ में ईश-वन्दना, आशीर्वाद अथवा कथा,वस्तु के निर्देश के पश्चात् कभी कभी सज्जन-प्रशंसा तथा असज्जन-निन्दा भी होती है। यथा-अवसर इसमें संध्या सूर्य, चन्द्र, रात्रि, सायंकाल, अन्धकार, दिवस, प्रभात, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतुओं, बनों सागरों संभोग, विप्रलंभ, ऋषियों स्वर्ग, नगरों यज्ञों युद्धों, आक्रमणों विवाहोत्सवों, मंत्रणा, कुमार-जन्मादि विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिये। इसका नामकरण कवि के नाम पर अथवा कथानक, नायक या अन्य पात्र पर होना चाहिये, परन्तु प्रत्येक सर्ग का नाम उसके वर्ण्य-विषय के आधार पर होना चाहिये।

(ख) लक्षणों का अर्थ

विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित महाकाव्य-लक्षणों का मूल्य आँकते हुए हमें यह याद रखना चाहिये कि इन लक्षणों में कुछ बातें ऐसी हैं, जो निश्चित तथा अनिवार्य है और जिनके विषय में आचार्य लोग एकमत हैं, जबकि कुछ बातें ऐसी हैं, जो अनिश्चित तथा गौण हैं और जिनके विषय में आचार्य लोग एकमत नहीं हैं। पहले प्रकार में निम्नलिखित हैं :—

(१) नायक का चतुरोदात्तत्व।

(२) चतुर्वर्ग-प्राप्ति का लक्ष्य।

(३) रस की उपस्थिति।

(४) कथानक का ऐतिहासिक आधार या सदाश्रयत्व।

और दूसरे प्रकार में निम्नलिखित लक्षण आते हैं:—

(१) सर्गों का रचना या संख्या*।

(२) वर्ण्य-विषयों की सूची।

(३) काव्य या सर्गों का नामकरण।

निस्संदेह पहले प्रकार के लक्षणों में साहित्य का भारतीय आदर्श निहित है, जब कि दूसरे में उस आदर्श के व्यक्तीकरण की प्रणाली। पहले का सम्बन्ध महाकाव्य की आत्मा से है, जिसका, स्वरूप समाज की संबुद्ध तथा ऊर्जस्वित प्रज्ञा द्वारा निर्धारित किया जाता है; दूसरे का सम्बन्ध महाकाव्य के शरीर से है, जिसकी रचना व्यक्ति-विशेषों कवियों) द्वारा होती है। 'आदर्श' है युगयुगान्तस्थायिनी शाश्वत और सुसंस्कृत 'शक्ति' का आदेश, जिसका पालन अनिवार्य्य है; काव्य-रचना कवियों द्वारा उसका व्यक्तिगत 'आज्ञा-पालन' है, जिसका प्रत्येक कवि अपनी शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास के अनुसार सम्पादित करने में स्वतन्त्र है। यही कारण है कि रामायण, महाभारत, कुमारसंभव, रघुवंश, बुद्ध-चरित, सौन्दरानन्द, शिशुपाल वध,

*कहीं सर्गों की संख्या अथवा उसके श्लोकों की गिनती का उल्लेख बिल्कुल नहीं हैं साहित्यदर्पण में सर्ग-संख्या न्यूनतम आठ हैं, परन्तु प्रत्येक सर्ग का विस्तार निश्चित नहीं है, ईशान संहिता में न्यूनतम सर्ग संख्या के अतिरिक्त अधिकतम संख्या भी दी गई है (अष्टसर्गान्न न्यूनं त्रिंशत्सर्गाश्च नाधिकम्) और पद्य-संख्या भी ३० से २०० तक निश्चित करदी है।

किरातार्जुनीय आदि जहाँ प्रथम प्रकार के लक्षणों में सहमत हैं, पूर्णतया एकमत हैं, वहाँ दूसरे प्रकार के लक्षणों में वे एक दूसरे से अत्यधिक विभिन्न हैं–किसी में एक नायक है, तो किसी में अनेक; रामायण में सात काण्ड हैं; तो महाभारत में अठारह पर्व, रघुवंश में १९, बुद्धचरित में २८ तथा रत्नाकर के 'हरविजय' में ५० सर्ग हैं। इसी प्रकार सर्ग-रचना तथा वर्ण्य-विषयों के चयन में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। अतः लक्षणों के प्रथम प्रकार को महाकाव्य के स्थायी तत्व कह सकते हैं और दूसरे को अस्थायी।

अस्थायी-तत्वों का विश्लेषण करने से हमें इनकी अनेकता या विभिन्नता में भी एक ध्रुव एकता मिल सकती है, जिसके द्वारा भारतीय महाकाव्य की 'आत्मा' के लिये शरीर-रचना की जाती है। महाकाव्य के वर्ण्य-विषयों की सूची को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि वर्ण्य-विषयों का चुनाव मानव-जीवन के पूर्ण क्षेत्र से किया जाता है, जिसको निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) व्यक्तिगत साधना।

(२) मानव का प्रकृति से सम्बन्ध।

(३) मानव का परिवार से सम्बन्ध।

(४) मानव का समाज से सम्बन्ध।

आचार्यों द्वारा बतलाये गये उक्त लक्षणों में वर्ण्य या प्रतिपाद्य विषयों को मानव-जीवन के इन चार भागों में इस प्रकार बांटा जा सकता है:—

(१) चतुर्वर्ग प्राप्ति।

(२) संध्या, सूर्य, चन्द्र, रजनी, प्रदोष, ऋतु, पर्वत, वन सागरादि ।

(३) संभोग , विप्रलम्भ, विवाहोत्सव; कुमार जन्म आदि ।

(४) आक्रमण, युद्ध, मंत्रणा, ऋषि मुनि, यज्ञ आदि ।

इससे प्रकट है कि भारतीय महाकाव्य व्यक्ति के जीवन का अध्ययन प्रकृति, परिवार और समाज के स्वाभाविक संनिकर्ष में करना चाहता है; उसके अनुसार मानव-जीवन का पूर्ण चित्र इस व्यापक तथा विस्तृत पृष्ठभूमि के बिना नहीं मिल सकता, क्योंकि मनुष्य की इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों की जो नानात्वमयी अभिव्यक्ति 'जीवन' के नाम से पुकारी जाती है वह इसी पृष्ठभूमि द्वारा विभावित एवं उद्भावित होती है। अपनी इच्छाशक्ति से उद्भूत 'काम' द्वारा मनुष्य जिन 'सामग्रियों तथा सेवाओं' की माँग उत्पन्न करता है, उन्हीं का उत्पादन वह अपनी क्रियाशक्ति से उद्भूत 'अर्थ' द्वारा करके उस माँग की पूर्ति करता है माँग-पूर्ति के इस व्यापार में सदसद्विवेक तथा आत्मानात्मभेद-बुद्धि होना अत्यावश्यक है, अन्यथा स्वार्थवाद, इन्द्रिय-लोलुपता तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला होने का डर रहता है । इसी कमी को पूरा करने के लिये ज्ञानशक्ति से उद्भूत 'धर्म' की आवश्यकता पड़ती है; धर्म ही इच्छा तथा क्रिया, काम तथा अर्थ के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये सदाचार और अध्यात्मवाद का सहारा देता है और अन्त में मानव को इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया तीनों से ऊपर उठाकर 'मोक्ष' द्वारा न केवल जड़ अनात्म तथा असत् से मानवात्मा को अनासक्त करता है, अपितु उसे तुच्छ स्वार्थों से भी छुटकारा दिलवाता है जिसके फलस्वरूप वह समाज में संयमी कर्मयोगी होकर कर्तव्यकर्मों

को करता हुआ अनासक्ति-योग का जीता जागता उदाहरण हो जाता है। इस प्रकार चतुवर्ग-समन्वित मानव-जीवन के भारतीय आदर्श की पूर्णता दिखाने के लिये आवश्यकता है कि मानव की सम्पूर्ण लीला-भूमि का अध्ययन और चित्रण किया जाय। यह लीला-भूमि प्रकृति, परिवार तथा समाज की समवेत भूमि है; इसी को उसकी विविधता तथा विभिन्नता के साथ चित्रित करने के लिये भारतीय महाकाव्य ने अपना वर्ण्य विषय बनाया है। इसी लीला-भूमि से सामग्री लेकर भारतीय महाकाव्य की शरीर रचना हुई है।

इस महाकाव्य-शरीर का आत्मा वही रस है, जिसका वर्णन पीछे हो चुका है, परन्तु यहाँ वह केवल व्यक्ति की ही वस्तु न होकर समष्टि की भी है। 'रसो वै सः' के चिरन्तन सत्य का जो साक्षात्कार योगी अपनी समाधि में करता है और साधारण कवि अपनी कविता के परिमित क्षेत्र में करना या करवाना चाहता है, उसी को महाकवि प्रकृति, परिवार एवं समाज के विस्तृत परिधि में फैलाकर तथा जीवन की पूर्णता में व्याप्त करके करना तथा करवाना चाहता है। महाकाव्य रस का 'समाजीकरण' करना चाहता है; वह व्यक्ति को न केवल समाज एवं प्रकृति के प्रशस्त-प्राङ्गण में रस-साधना करने के लिये बाध्य करता है, अपितु वह इस साधना में सारे समाज को रत करने के लिये भी प्रयत्नशील है। जिस प्रकार प्राचीन 'काव्य' में नाट्य का लक्ष्य वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक और सार्वजनिक बनाना था, उसी प्रकार 'साहित्य' में महाकाव्य का ध्येय है। अतः महाकाव्य में मुक्तकादि काव्यों की भाँति केवल पृथक पृथक चित्रों या परिस्थितियों द्वारा ही रसानुभूति विभावित नहीं होती; उसकी निष्पत्ति में मानव चरित के चित्रण तथा उसकी पृष्ठभूमि में रहने वाली प्रकृति, परिवार

तथा समाज की त्रिकुटी से भी सहायता ली जाती है।

जैसा कि प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है, रसानुभूति मनोरञ्जन-मात्र नहीं है, अतः महाकाव्य में मानव-चरित्र का चित्रण केवल 'अर्थ-काम' समन्वित होने से काम नहीं चल सकता; यदि काव्यरस का सौन्दर्य सत्यत्व एवं शिवत्व से युद्ध रखना है, तो अर्थ-कामपरता स्वच्छन्द की रँगरलियों पर धर्म का अङ्कुश बिठाने की आवश्यकता है और उन्हें अनासक्त 'भोगों के रूप में बदलकर मोक्ष-साधना में साधन रूप में प्रयुक्त करना है। इसीलिये महाकाव्य के स्थायी तत्वों में रस के साथ साथ चतुर्वर्ग-प्राप्ति का विधान किया गया है। नायक का धीरोदात्तत्व तथा कथानक का सदाश्रयत्व भी रस के 'असतो मा सत गमय' के आदर्श को स्थापित करने के लिये रक्खा गया है; अन्यथा साधारण मनोरञ्जन तो भाँडों की भड़ैती से भी हो सकता है और मनुष्य की हीन भावनाओं तथा मनोवेगों को उभाड़ने वाले वेश्यालयों, मदिरालयों तथा नग्नस्वरूपों के वर्णन से भी सम्भव है। परन्तु, इससे समाज की प्रगति नहीं दुर्गति होगी; मानव देवत्व की ओर न जाकर असुरत्व की ओर जायेगा; वह सौन्दर्य का रसिक न रह कर रक्तपात एवं नरदाह का रसिक हो जायेगा। अर्थ-काम-परायण 'प्रगतिवाद' को भी मानना पड़ेगा कि मानव-जीवन में अर्थ-काम की प्रधानता होते हुए भी, यदि उसकी मानवता को जीवित रखना है तो इन दोनों को 'साध्य' के स्थान से उतारकर केवल साधन-पद देना पड़ेगा। हमारे काव्य में रस की अलौकिकता तथा जीवन का आदर्शवाद इसी ओर प्रयत्नशील है।

(ग) लौकिक और अलौकिक का समन्वय

अर्थ-काम का धर्म मोक्ष के साथ संयोग कराके तथा अलौ-

किक रस को मानव-जीवन से संयुक्त करके भारतीय महाकव्य ने लौकिक और अलौकिक के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में कथानक की ऐतिहासिकता तथा नायक के क्षत्रियत्व एवं देवत्व ने भी बहुत सहायता पहुंचाई है। इतिहास-प्रसिद्ध कथानक के नायक के प्रति जनता के हृदयों में यों ही विशेष राग होता है, और यदि वह क्षत्रिय* (देश के राजनीतिक जीवन का प्राण) हुआ तो वह राग एक मोहनीमंत्र बन जाता है। नायक के साथ पाठकों का यह रागात्मक सम्बन्ध जहाँ रस-परिपाक में शीघ्रता तथा सरलता उत्पन्न कर देता है और रसानुभूति में आवश्यक ममत्व या तादात्म्य ला देता है, वहाँ उसका धीरोदात्तत्व एवं देवत्व रस के शिवत्व एवं सत्यत्व को निश्चित कर देता है जिसके बिना रस की पूर्णता और परिपक्वता तो दूर, उसकी रसता भी सम्भव नहीं। इसालिये भारतीय महाकाव्य लौकिक चरित्र को वर्ण्य बनाकर भी उसकी लोकोत्तरता पर दृष्टि रखता है, मानवत्व में निहित देवत्व को व्यक्त और विकसित करने में दत्तचित रहता हैं।

कथानक के भीतर लौकिक और अलौकिक का समन्वय समाविष्ट करने के लिये भारतीय महाकाव्यों में प्राय: ऐतिहासिक कथानक को ऐसे परिवर्तित और परिवर्द्धित कर लिया गया है कि उसमें ऐतिहासिक सत्य के साथ-साथ आध्यात्मिक सत्य भी दिखाया जा सकता है। यही कारण है कि वाल्मीकि के राम

---

*प्राचीन भारत के समाज में क्षत्रिय का वही स्थान था जो आज राजनीतिक नेताओं का है। वस्तुतः 'क्षत्रिय' शब्द को राजनीतिक नेता का पर्यायवाची ही समझना चाहिये, न कि किसी जाति-विशेष का मनुष्य।

मनुष्य होते हुए भी पूर्ण ब्रह्म हैं अथवा उनकी पूर्ण मनुष्यता ही ब्रह्मता है। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक बड़े महत्व का है:-

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना ॥

इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का अन्वय दो प्रकार किया जाता है-'वेदवेद्ये परे पुंसि दशरथात्मजे जाते' अथवा दशरथात्मजे वेदवेद्ये परे पुंसि जाते।' इसका अर्थ है कि जब वेदवेद्य परब्रह्म ने दशरथपुत्र राम के रूप में पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त किया, अथवा जब राम ने पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करके वेदवेद्यत्व (ब्रह्मत्व) को प्राप्त किया, तब प्राचेतस (वाल्मीकि) द्वारा रामायण के रूप में वेद ने साक्षात् रूप ग्रहण किया। अतः श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री ने लिखा है:—

The author of the Ramayana blends in a happy way two ideas—that God fulfills himself in the best man, Shri Ramachandra, and that man, as Dasharatha's son, rises to his full stature by pulling up his Manhood to the level of Brahmanhood. The author of the Ramayana would inter Pret the upanisadic teaching "पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः" as equuivalent to "मनुष्यान्न परं किंचित् साकाष्ठा सा परा गतिः"

यही बात हमें न्यूनाधिक रूप में अन्य राम-काव्यों में भी मिलती है, परन्तु इसका जितना अच्छा निर्वाह हमारे तुलसीदास जी ने किया है उतना अन्यत्र नहीं मिलता। वे अपने रामचरित मानस के प्रारम्भ ही में स्पष्ट कर देते हैं कि उनकी सीता

इस काल से भी परे उस काल की परिधि में आती है, जिसको महाकाल कहा जा सकता है।

(घ) देवासुर-संग्राम

लौकिक और अलौकिक के समन्वय का मूल रहस्य है देवासुर संग्राम। हम देखते हैं प्रकृति में दो प्रकार की शक्तियों के बीच संघर्ष चल रहा है—एक तो सृजन, पोषण तथा विकास की शान्त धारा लेकर आता है, जिससे प्रकृति हरी-भरी और जीवनमयी दिखाई पड़ती है; दूसरा प्रकार उच्छेदन, ह्रास और विनाश के बवण्डर लेकर चलता है, जिससे प्रकृति के खिलखिलाते हुए स्वास्थ्य पर उजाड़ और विध्वंस की भयावह क्रीड़ा होने लगती है। यह जीवन और मृत्यु का संघर्ष है, सत् और असत् का युद्ध है, जो हमें प्रकृति में सर्वत्र दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार का संघर्ष मानव-समाज में भी चलता रहता है– हमारे सामाजिक द्वंद्वों युद्धों और महायुद्धों के रूप में इसी की अभिव्यक्ति होती है। सामाजिक कलेवर में सदा कुछ ऐसी शक्तियाँ होती हैं, जो समाज के अस्तित्व के लिये घातक होती हैं और जो नियन्त्रित रहने पर इसके लिये लाभप्रद भी हो सकती हैं। इनका उभाड़ और उच्छृङ्खलपन समाज के लिये कभी हितकर नहीं; अतः वह इन पर विजय प्राप्त करना चाहता है।

वाह्य-जगत् की भाँति हमारे अन्तर्जगत् में भी एक संघर्ष चल रहा है। इस अन्तर्द्वन्द्व में भी वही अस्तित्व और अनस्तित्व, जीवन और मृत्यु, चेतन और जड़, सत् और असत् के बीच युद्ध होता है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के अनुसार इसी अन्तर्द्वन्द्व की प्रतिकृति वाह्य-जगत् में विद्यमान है; और इन दोनों में से एक का प्रभाव दूसरे पर पड़े बिना नहीं रह सकता। वाह्य-

जगत् के अङ्गभूत प्राणी और प्रकृति उद्दीपक होकर हमारे मन में अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ उत्पन्न करते तथा उन्हें संस्कार रूप में सञ्चित करते रहते हैं। हमारे महत् (बुद्धि) तत्व की दो प्रवृतियाँ इन अनुभूतियों और संस्कारों को दो रूपों में कर देती हैं—धनात्मक प्रवृति शम, दम, दया, औदार्य आदि देवत्व रूप में और ऋणात्मक प्रवृति क्रोध, मद, मत्सर आदि असुरत्व रूप में । पुरुष-प्रकृति के संयोग से उत्पन्न 'महत्' की देवत्व-प्रवृति शुद्ध चेतन-पुरुष की ओर ले जाती है, जब कि असुरत्व-प्रवृति जड़ प्रकृति की ओर । अत: एक का लक्ष्य चैतन्योन्मुख सुखवाद है और दूसरे का जडत्वोन्मुख दुखवाद; एक रस (ब्रह्मानन्द) की अनुभूति करा सकती है, दूसरी विष (हलाहल) की ।

महज्जन्य व्यावहारिक जगत् में उक्त दोनों प्रवृतियाँ परस्पर घुली-मिली सी हैं। परन्तु साहित्य में दोनों का चित्रण आवश्यक और अनिवार्य होते हुए भी देवत्व-विजय का ही दिखलाना वांछनीय है क्योंकि यह जीवन तो वह सागर है, जिसमें से विष से लेकर रस (अमृत) तक सारे रत्न निकल सकते हैं देवासुरयोग की दो चरम-सीमायें हैं-एक देव दासत्व और दूसरा असुर-दासत्व; पहले का फल है विष तथा दूसरे का अमृत और इन दोनों के बीच में हैं अन्य रत्न। प्रश्न यह है कि हमें निकालना क्या है, देव विजय की दुन्दुभी बजाते हुए चिरजीवनदायक अमृत अथवा असुर-विजय की का स्वागत करते हुए चिर-मृत्यु-विधायक विष । चाहे प्रकृति को देखिये अथवा व्यक्ति, परिवार या समाज को, सर्वत्र 'अमृत' की खोज ही वांछनीय दिखाई पड़ती है । यद्यपि व्यावहारिक जगत में अमृत अपने आत्यन्तिक रूप में प्राप्त नहीं है, फिर भी वह अपने सापेक्षिक रूपों में ही जीवन को जीने योग्य बना देता है । इस प्यासी खोज में ही मानव-जीवन की

सार्थकता है। परन्तु इसको जागृत रखने के लिये भी देव-विजय पर दृष्टि रखना आवश्यक है, न केवल बाह्य-जगत में अपितु अन्तर्जगत में भी।

यही कारण है कि व्यासजी का 'जय' नामक इतिहास भारतकार तथा महाभारतकार के हाथों में पड़कर केवल दो राजवंशों का युद्धमात्र ही न रह गया; उसके द्वारा कृष्ण-शुक्ल, असत् सत् अधर्म-धर्म आदि के बीच होने वाले व्यापक देव-दानव-द्वन्द्व को भी व्यक्त किया गया है और उसमें नर की विजय द्वारा हा नर-समष्टि में व्याप्त नारायण की विजय भी दिखलाई गई है। अतः ऐतिहासिक कथानक में पर्याप्त हेर-फेर करनी पड़ी। नारायण की शक्ति जहाँ व्यष्टि में पञ्च ज्ञानेन्द्रियों द्वारा समान रूप से भोगी जाती है, वहां समष्टि में पञ्च-जनों द्वारा, अतएव इस शक्ति की प्रतीक नारायणी (द्रौपदी) को पाँच पाण्डवों की पत्नी होना पड़ा। इसी प्रकार दुर्योधन के सौ भाई होना और उन सब का नाम 'दुर्' उपसर्ग-युक्त होना, भीष्म का शर शय्या शयन, कर्ण-वध या जयद्रथ-वध आदि में अलौकिक घटनायें तथा अन्त में हिमालय के लिये महाप्रस्थान आदि ऐसी बातें हैं, जो किन्हीं आध्यात्मिक तथ्यों की प्रतीक होती हैं, जिनमें से कइयों का आधार तो स्पष्टतः ऋग्वेद है।

जो बात यहां महाभारत के लिये कही गई है, वही न्यूनाधिक रूप में रामायण तथा ऐसे ही अन्य महाकाव्यों के लिये भी कही जा सकती है। परन्तु, जहाँ इन महाकाव्यों में ऐतिहासिक कथानक को आधार बनाकर आध्यात्मिक तत्व-निरूपण किया गया है, वहाँ ऐसे महाकाव्य भी हैं, जिनमें आध्यात्मिक तथ्यों को ही मानवीय जीवन का जामा पहनाया गया है। इस प्रकार के

महाकाव्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कुमार-सम्भव है। कुमार-सम्भव हिमालय पर्वत के वर्णन से प्रारम्भ होता है। पर्वत का अर्थ है पर्ववान्; पहाड़ में अनेक पर्व होते हैं, इसीलिये उसे पर्वत कहते हैं। पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में भी अनेक पर्व हैं; अतः वैदिक साहित्य की भाँति कुमार-सम्भव में पर्वत इन दोनों के प्रतीक के रूप में आया है। इस पर्वत की कन्या पार्वती वही शक्ति है, जो पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में एकसी व्याप्त है और जिसको वैदिक साहित्य में हैमवती उमा' या केवल उमा कहा गया है। यह पर्वत बड़ा भारी प्रजापति है जिसके राज्य में अनेक देवकर्मों द्वारा यज्ञ विस्तार पाता है, परन्तु असुरत्व के प्रतीक तारक आदि से आक्रान्त होने पर इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती है। इस तारक का वध उक्त उमा तथा अजरामर शिव ब्रह्म के संयोग से उत्पन्न कुमार ही कर सकता है। अतः इस दिव्य-संयोग तथा कुमार-जन्म कोलक्ष्य रखकर ही कुमार सम्भव लिखा गया है इस लक्ष्य की पूर्ति कवि ने न केवल व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में अपितु दाम्पत्य-जीवन तथा सामाजिक जीवन में भी दिखाने का प्रयत्न किया है।

(ङ) देव-द्वंद्वचित्रण का उपयोग

देव-दानव-द्वंद्व का चित्रण भारतीय महाकाव्य में एक विशेष महत्व रखता है। यह चित्रण वास्तव में भारतीय काव्य का यथार्थ-वाद है, क्योंकि इसके द्वारा जीवन में होने वाले सुख-दुख, जय पराजय, लाभ-हानि, उत्थान-पतन आदि के द्वंद्वों का चित्रण हो जाता है। परन्तु यह वह यथार्थवाद नहीं जो दुःख, पराजय, हानि, पतन आदि को श्लाघ्य पद प्रदान करे और पाठकों के मन में निराशा, क्षोभ या असन्तोष की आँधी उत्पन्न करके उनको पथ-भ्रष्ट करे। यह वह यथार्थवाद है, जो जन-जन के मन में

रहने वाली सुख और प्रगति की इच्छा को जागृत रखता है। और विघ्न-नाश या संकट-मुक्ति की प्रबल आशा को बनाये रखता है क्योंकि इसके बिना उस देव-विजय की आशा नहीं जो व्यष्टि और समष्टि में सर्वत्र विकासोन्मुखी और कल्याण-विधायिनी शक्तियों की प्रतीक है।

देव-विजय के व्यापक चित्रण में ब्रह्मानन्द व्यक्तिगत साधना के दुर्गम और संकीर्ण स्थल से निकलकर सहस्रधार हो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों म बरसता हुआ प्रतीत होता है और आबाल-वृद्ध के आचरण में अभिव्यक्त होकर सदाचार और संयम के रूप में समष्टि के जीवन में आह्लाद और उल्लास की वृद्धि करता है। यही रस का समाजीकरण है। स्थितप्रज्ञ योगी आत्मा के जिस सौन्दर्यपुञ्ज की अनुभूति समाधि में तथा अभिव्यक्ति अपने व्यक्तिगत व्यवहार' में करता है गीति-काव्यकार उसी की फुल-झड़ियों को कुछ नीचे स्तर पर ग्रहण करके अपनी गीतियों को सजीव करता है, और महाकाव्यकार उसी के विश्व वितत महारश्मि-जाल को चित्रित कर व्यष्टियों के संश्लिष्ट समष्टि जीवन को सत्, सरस तथा सुन्दर बनाता है। गीति-काव्य की सफलता भाव-घनत्व में है, जब कि महाकाव्य की भाव-विस्तार में। यद्यपि महाकाव्य में गीति-काव्य का भाँति पद-पद में काव्यत्व नहीं होता, परन्तु उसकी समष्टि में जो काव्यत्व होता है और उसके विस्तार, व्यापकत्व तथा विशालत्व का जो प्रभाव पड़ता है वह अन्ततोगत्वा अधिक तीव्र तथा स्थायी होता है। यही कारण है कि महाकाव्य में समष्टि-साधना तथा युग-निर्माण की जो सामग्री तथा शक्ति होती है, वह गीति-काव्य में नहीं। रामायण, महाभारत रामचरित्र-मानस आदि की सफलता तथा स्थायी लोकप्रियता का यही रहस्य है।

नेमिदूत का काव्यत्व

नेमिदूत की वस्तु जैनियों के बाईसवें तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथ के जीवन से ली गयी है। द्वारिका के यदुवंशी राजा समुद्रविजय श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भाई थे। इन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र श्रीनेमिनाथजी बचपन से ही विषयपराङ्मुख थे जब श्रीकृष्ण ने आपका विवाह राजा उग्रसेन की पुत्री राजमती से करना निश्चित् कर लिया, तो आपने उनके आदेश को न टाला और बरात में जाना स्वीकार कर लिया। परन्तु जब बरात पहुंचती है और श्रीनेमिनाथजी देखते हैं कि एक बाड़े के भीतर बहुत से निरीह पशु बरातियों के भोजनार्थ एकत्र किये गये हैं, तो उनका करुणार्द्र हृदय द्रवित हो जाता है और वे रक्त-रञ्जित भोगों को सदा के लिये छोड़कर गिरिनार पर्वत पर योगाभ्यास और तपश्चर्या में लग जाते हैं इस पवित्र प्रयत्न से उन्हें कोई न डिगा सका—न बन्धु बांधवों का मोह, न त्रैलोक्यसुंदरी राजीमती का रूप और न पिता का आदेश; क्योंकि निरीह प्राणियों की वध-कालीन कातर वाणी की कल्पनामात्र से जो करुणा उनके हृदय में उमड़ी, उसके सामने ये सब बन्धन तुच्छ थे।

श्रीनेमिनाथ के परित्याग करने पर भी राजीमती भला उन्हें कब छोड़ने वाली थी; वह तो उनको अपने मनमंदिर में पति रूप में स्थापित कर चुकी थी। अतः उस विरह-विधुरा ने अपने देव

को पुनः प्राप्त करने के कई प्रयत्न किये—वृद्ध ब्राह्मण को उनका कुशल समाचार लेने श्रीनेमि की तपोभूमि को भेजा (१०७) और फिर पिता की आज्ञा लेकर स्वयं वहां एक सखी के साथ पहुंच कर अनुनय-विनय करती हुई अपने विरह दग्ध हृदय की भावनाओं को एक प्रलाप—रूप में व्यक्त करने लगी; (२-७८) उसके इस प्रयत्न को असफल देखकर सखी ने राजमती के पति-प्रेम, विरह—व्यथा, स्वप्न-प्रलाप आदि का वर्णन (८८-१२३) करते हुये श्री नेमि से कहा:—

राजीमत्या सह नवघनस्येव वर्षासु भूयो,
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युताविप्रयोगः।

"जैसे वर्षा ऋतु में नवघन से चपला का वियोग नहीं होता, उसी प्रकार राजमती से तुम्हारा अब क्षण भर के लिये भी पुनः वियोग न हो।"

सखी सहित राजमती के इन प्रयत्नों का वर्णन ही प्रस्तुत काव्य का विषय है।

नामकरण

इस काव्य के नाम को देखकर ऐसा लगता है कि इसमें श्री नेमि ने दूत का काम किया होगा अथवा उन्होंने कोई दूत बनाया होगा; परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। श्री प्रेमीजी लिखते है—"यह मेघदूत के ढंग का काव्य है और मेघदूत के ही चरण लेकर इसकी रचना की गई है। शायद इसीलिये इसे नेमिदूत नाम मिल गया है न इसमें नेमिनाथ दूत बनाये गये हैं और न उनके लिये कोई दूसरा दूत बनाया गया है" यद्यपि

यह बात सही है, फिर भी यह बात विचारणीय है कि 'मेघदूत' में जो दूत—कर्म मेघ–द्वारा संपादित हुआ है, लगभग वही अथवा वैसा ही कर्म यहां राजमती तथा उसकी सखी के द्वारा कराया गया है। परन्तु इन दोनों के कथनों में यदि दौत्य देखा जाय, तो यही कहना पड़ेगा कि यह सारा ही राजमती के लिये है और इसीलिये प्रेमीजी के शब्दों में, "इस काव्य का 'राजमती-विप्रलम्भ' या 'राजमती-विलाप अथवा ऐसा ही और कोई नाम अन्वर्थक होता; परन्तु अन्तिम श्लोकों से इसमें नेमिनाथ को प्रधानता प्राप्त हो गई है"

मेरी समझ में नेमिनाथ की इस प्रधानता में काव्य के नाम करण का रहस्य छिपा है। उन्होंने उस पर्वत पर स्वयं 'केवल ज्ञान' प्राप्त किया और राजमती से सांसारिक भोगों को छुड़वाकर उसे शिवपुरी में अभिमतसुख शाश्वत आनन्द' का भोग करवाया :—

श्रीमान् योगादचलशिखरे केवलज्ञानमस्मिन,
नेमिर्देवोरगनरगणैः स्तूयमानोऽधिगम्य।
तामानन्द शिवपुरि परित्यज्य संसारभाजां,
भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शश्वत्॥ १२५॥

इससे स्पष्ट है कि राजमती और उसकी सखी के कथनों का परिणाम यह हुआ कि श्रीनेमि ने राजमती को अपने पथ—आनन्दोन्मुख निवृति मार्ग—का पथिक बनाया। और राजमती आई भी किस लिये थी? सचमुच उसे ऐहिक सुख की चाह न थी, यदि ऐसा होता तब तो वह उस वैभव को छोड़कर अपने शरीर को दुःखसागर में न डुबाती जैसा कि उसकी सखी के

वचनों से प्रकट है। वह जानती है कि जन्मजन्मान्तर के कर्म किस प्रकार बन्धन में डालते हैं; अतः वह चाहती है कि उसे श्रीनेमि के संयोग से 'चिर-सुख' शाश्वत आनन्द मिले:—

दुःखं येनानवधि बुभुजे त्वद्वियोगादिदानीं,
संयोगात्तेऽनुभवतु सुखं तद्वपुर्मे चिराय।
यस्माज्जन्मान्तरविरचितैः कर्मभिः प्राणभाजां,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ ११७ ॥

अतः स्पष्ट है कि उक्त दौत्य का जो परिणाम था, वही उद्देश्य भी था; राजमती के कथन में जो सांसारिक सुखों की ओर श्री नेमि को ले जाने का प्रयत्न है; वह केवल विरहिणी का प्रलाप है; वास्तविक उद्देश्य तो सचेत सखी ही कह सकती थी।

इस विवेचन को ध्यान में रख कर, क्या यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त दौत्य कर्म में श्रीनेमि के ही उद्देश्य की पूर्ति थी और उन्होंने राजमती को पत्नी रूप में ग्रहण न करने पर भी आनन्द-पथ की संगिनी के रूप में ग्रहण करना निश्चित कर लिया था, जिसके लिये ही 'अदृष्ट' शक्तियाँ राजमती को तैयार करके लाई थीं-नेमिनाथ के दूतों ने इस प्रकार अदृश्य रूप में उनका संदेश राजमती तक पहुँचाया था। सचमुच यह विचित्र दूतकर्म था; पर था अवश्य। अतः श्री प्रेमी जी का यह कथन ठीक है कि इसका "नेमिचरित' नाम बहुत सोच समझ कर रक्खा गया है।"

नेमिदूत और मेघदूत

जैसा कि नेमिदूत के अन्तिम पद से प्रकट है, नेमिदूत की रचना समस्या—पूर्ति के ढंग पर हुई; जिसमें मेघदूत के प्रत्येक

पद के अन्तिम चरण को एक समस्या माना गया है:—

सद्भूतार्थप्रवरकविना कालिदासेन काव्या--
दन्त्यं पादं सुपदरचितान मेघदूताद्गृहीत्वा।
श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा,
चक्रे काव्यं बुधजनमनः प्रीतये विक्रमाख्यः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार नेमिदूत में मेघदूत के १२५ पदों का उपयोग किया गया है, परन्तु मेघदूत की जो जो पद संख्या मिली है, उसमें मुख्य मुख्य निम्नलिखि है:—

जिनदास	(८ वीं या ९ वीं शताब्दी)	१२० पद
बल्लभ	(१२ वीं ")	१११ "
दक्षिणावर्तनाथ	(१३ वीं ")	११० "
मल्लिनाथ	(१५ वीं ")	१२१ "
स्थिरदेव	(१२ वीं ")	११२ "

इसमें से मल्लिनाथी संस्करण में पदों की संख्या सब से अधिक (१२१) है, परन्तु इनके आगे अन्त में पांच पद और पाये जाते हैं, जिनको प्रक्षिप्त समझा जाता है और जिन पर मल्लिनाथ की टीका नहीं मिलती। यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि इन्हीं अन्तिम पांचों में वे दो पद भी हैं, जिनके चरणों को लेकर नेमिदूत के १२३ वें और १२५ वें पदों की रचना हुई है और नेमिदूत को नेमिदूतत्व प्राप्त हुआ है। वास्तव में इन दोनों को प्रक्षिप्त मान लेने पर काव्य अधूरा रह जाता है; जैसा कि इन दोनों* के अन्तिम चरणों से प्रकट है, इन्हीं दो में वियोग संयोग में

* इन दोनों के अन्तिम चरण ये हैं:—

(१) केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥

(२) भोगानिष्टानभिमत सुखं भोजयामास शश्वत् ॥

और दुःख सुख में परिवर्तित होकर 'अभिमत फल' की प्राप्ति कराता है। इनके बिना विरह-व्यथा शान्त नहीं होती और काव्य दुःखान्त ही रह जाता है, जो चाहे वर्तमान समालोचकों को रुचिकर भले ही हो, परन्तु भारतीय परंपरा के विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि अन्यत्र × प्रतिपादित किया जा चुका है, भारतीय प्रबन्ध-काव्यों में लौकिक और पारलौकिक, भौतिक तथा अध्यात्मिक का समन्वय कराने की प्रथा चली आ रही है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मेघदूत पर लिखते हुये लिखा है—"हममें से प्रत्येक निर्जन गिरिशृङ्ग पर अकेला खड़ा होकर उत्तर की ओर देख रहा है। बीच में आकाश, मेघ और सुन्दरी पृथ्वी के सुख-सौन्दर्य्य-ऐश्वर्य की चित्रलेखा के स्वरूप, रेवा, सिप्रा, अवन्ती, उज्जयिनी वर्त्तमान हैं। ये सब मन में स्मृति जगा देते हैं, पर पास में पहुंचने नहीं देते; आकांक्षाका उद्रेक करते हैं पर उनकी निवृत्ति नहीं करते। दो मनुष्यों के बीच में इतना अन्तर ?

"किन्तु यह बात मन में उठती है कि किसी समय हम लोग एक ही मानस लोक में थे, पर अब वहाँ से निर्वासित हो गये हैं। इसी से एक कवि ने गाया है—

"हृदय-पटल से बरबस बाहर किया तुम्हें अब किसने थे।"

केवल यही नहीं। वैदिक परम्परा के अनुसार अनेक पर्व (संयोजक अंग) होने से पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड पर्ववान या पर्वत कहलाता है, रमणीय (भोग्य) होने से इस 'रामपर्वत'

× देखिये लेखककृत "कामायनी सौन्दर्य"

कह स
यक्ष (
अकेला
आदि
करता
यों तो
रहता
तपने
(प्रमुर
है, तब
(मन
'मनोम
'पूर्वमे
'मनोम
'उत्तरमे
होती है

से

इस
प्रिया
है। इस
गया है
होने
तैयार
भारती
लिखि

स्वर्गारोहण पर्व में ही कुरुक्षेत्र के युद्ध को स्वर्ग लाभ हो गया। कथा-प्रिय व्यक्तियों को जहाँ कथा—समाप्ति रुचिकर होती, वहां महाभारतकार नहीं रुके; इतनी बड़ी कहानी को धूल के बने घर की भांति वे एक क्षण में छिन्न-भिन्न कर आगे बढ़ गये। जो संसार से विरागी हैं और कथा-कहानियों को उदासीन भाव से देखते हैं, उन्होंने ही उसके भीतर से सत्य का भी अनुसंधान किया; वे क्षुब्ध नहीं हुये ।" बिलकुल यही बात मेघदूत के लिये कही जा सकती है।

यही करण है कि जैन मनीषियों और महात्माओं ने मेघदूत के लेखक कालिदास को 'सद्भूतार्थप्रवर कवि' माना है और उसके अनुकरण पर जैन मेघदूत, नेमिदूत, शीलदूत, पार्श्वाभ्युदय आदि ग्रन्थ लिखकर न केवल सदाचार और संयम का आदर्श स्थापित किया अपितु परमार्थ-तत्त्व का भी निरूपण कर दिखाया और साथ ही काव्य की भाषा में रखने से उसे सरसता भी प्रदान की। उक्त अन्तिम दो पदों की टीकाकारों द्वारा उपेक्षा होने का कारण केवल यही हो सकता है कि वे कवित्व की दृष्टि से उत्तम नहीं, केवल कथा उनमें द्रुतगति से छलांग मारती है। इसी कारण संभवतः ये दोनों पद एक दृष्टि से आवश्यक होते हुये भी प्रायः भुला दिये गये और कालान्तर में यदा—कदा उपलब्ध होने से प्रक्षिप्त माने जाने लगे।

नेमिदूत में अध्यात्म

नेमिदूत के ऐतिहासिक कथानक को भी आध्यात्मिक तत्त्व निरूपण का माध्यम बनाया गया है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु मेघदूत और नेमिदूत में पर्याप्त अनन्त है; जहाँ मेघदूत का यक्ष अमरावती (स्वर्ग) में स्थित निज पत्नी के लिये व्याकुल है,

यहां नेमिदूत का नायक सारे भोगों को छोड़कर योगासक्त हो स्वयं 'केवल ज्ञान' प्राप्त करता है और अपनी शरण में आई हुई राजमती को भी 'शाश्वत् आनन्द' की प्राप्ति करवाता है। जैन-धर्म के अनुसार तीर्थङ्कर में मानवता का वह आदर्श है, जिसे भगवत्तत्व कह सकते हैं और जो साधक के लिये एकमात्र साध्य है। अतः जब साधक (राजमती) नेमिनाथ के पास जाता है, तो वे पर्वत (पिण्ड के आध्यात्मिक जगत्) के उच्चतम शिखर (आनन्दमय कोश के उच्चतम स्तर) पर आसीन दिखाई पड़ते हैं न कि मेघदूत के यक्ष की भांति केलव विभिन्न आश्रमों में बसते हुये:—

सा तत्रोच्चैः शिखरिणि समासीनमेनं मुनीशं,
नासान्यस्तानिमिषनयनं ध्याननिर्द्धूतदोषम्।
योगासक्तं सजलजलदश्यामलं राजपुत्री,
वप्रक्रीडापरिणतगज-प्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

ऐसे महान साध्य को प्राप्त करना सरल नहीं; उसके लिए अगाध- भक्ति की आवश्यकता है, जिसमें मान-मर्यादा, सुख-दुख आदि किसी की चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि —

भक्ति का मारग झीना रे।
नहिं अचाह नहिं चाहना चरनन लौ लीना रे।
साधन के रस-धार में रहे निस-दिन भीना रे।
राग में सुत ऐसे बसे, जैसे जल मीना रे।
साईं सेवन में देत सर, कुछ विलम न कीना रे।
कहैं कबीर मत भक्ति का, परगट कर दीना रे।

अतः नेमिदूत में राजमती की विरह-व्यथा में साधक की तपस्या का रूपक समझना चाहिए। भक्त तो अपने लौकिक 'पत्रं-पुष्पं' को ही बहुत कुछ मानता है, अतः वह भगवान के सामने उन्हीं को भोग्य रूप में रखता है; राजमती द्वारिका आदि नगरियों, स्वर्णरेखा आदि नदियों तथा गंधमादन आदि पर्वतों के प्रतीकों द्वारा इन्हीं की ओर संकेत करती है, परन्तु 'शम-सुखरतं' भगवान द्वारा उन सबके ठुकराये जाने पर वह अन्त में सब प्रयत्न छोड़कर पूर्ण आत्मसमर्पण करके एकमात्र भगवत्कृपा की अभिलाषिणी रह जाती है :—

धर्मज्ञस्त्वं यदि सहचरीमेकचित्तां च रक्तां,
किं मामेवं विरहशिखिनोपेक्षसे दह्यमानाम्।
तत्स्वीकारात्कुरु मयि कृपां यादवाधीश बाला,
त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ ११० ॥

नेमिदूत में रस

इस आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में नेमिदूत का शृङ्गार अत्यन्त उदात्त और उत्कृष्ट हो जाता है। राजमती के विप्रलंभ का जन्म विवाहोपरान्त संभोग की आशा, अभिलाषा और संभावना के विनाश से होता है, परन्तु इस वियोग की परिणति, सुखान्त होते हुए भी, साधारण शृङ्गात्मक संभोग में न होकर शान्तरस में होती है; नायक-नायिका का मिलन शारीरिक भोगों के लिये नहीं, मोक्षसौख्य की प्राप्ति के लिये होता है :—

चक्रे योगान्निजसहचरीं मोक्षसौख्याप्तिहेतोः।

भारतीय आदर्श के अनुसार संभोग साध्य नहीं है; वह तो एक प्रकार से तपोमय जीवन का पर्य्यायवाची बनकर अन्ततो-

गत्वा मुक्ति का साधन होना चाहिये। इसीलिये रामायण और महाभारत का रतिभाव अयोध्या के वैभव-पूर्ण वातावरण को छोड़कर वन के कंटकों में; अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा विक्रमोर्वशी का वियोग के श्वासोच्छ्वास में, बुद्धचरित एवं भर्तृहरि सतक का वैराग्य में और मीरा तथा गोपियों का भक्तिप्रवणता में पनपता हुआ शमभाव में परिणत होने की क्षमता प्राप्त करना चाहता है। रति-भाव की अभिव्यक्ति भारतीय साहित्य में तीन प्रकार से हुई है—(१) संभोग को ही साध्य मानकर जैसे दुष्यन्त शकुन्तला में (२) चिरन्तन प्रेम को ही साध्य मानकर, जैसे गोपियों और मीरा में तथा (३) वैराग्य-बुद्धि या कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर, जैसे बुद्ध-चरित एवं कुमारसंभव में। पहले प्रकार में प्रेमी प्रेमान्ध होकर चलता है और ठोकर खाकर सँभलता है। दूसरे में प्रेम का प्यासा प्रेमी समझता है कि—

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का, और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जागृत गति है, और सुषुप्ति मिलन है॥

अतः वह चिरवियोग में ही मग्न रहता है। इस प्रकार की प्रेमाभिव्यक्ति लौकिक जीवन के लिये घातक है, अतएव इसका चित्रण केवल भक्त के जीवन में ही ठीक समझा गया है, क्योंकि अंत में उसकी परिणति भगवत्साक्षात्कार में होकर सुखान्त हो जाती है। तीसरे प्रकार में प्रेमी भोग-बुद्धि की निस्सारता समझकर केवल कर्तव्य-भाव से संभोग में प्रवृत्त होकर निष्काम-भाव से कर्म करता हुआ मुक्ति की ओर अग्रसर होता जाता है अथवा विरक्त रहता हुआ अपने प्रेमी को शाश्वत सुख का आस्वादन कराता है।

नेमिदूत का शृङ्गार अन्तिम प्रकार का है। कुमारसंभव की भांति यहाँ भी नायक एक पर्वत-शिखर पर योगासक्त होकर बैठा है और नायिका अभिलाषा-हेतुक वियोग से व्यथित होकर उसके सामने खड़ी याचना कर रही है-वह इह-लोक के, सौन्दर्य, ऐश्वर्य तथा आकर्षण का वर्णन करती है, नायक को कर्त्तव्यों का ध्यान दिलाती और यथासंभव उसमें संभोग-प्रवृत्ति जगाने का प्रयत्न करती है, परन्तु अंत में पार्वती के समान सारे वैभव, विलास और सौन्दर्य का तिरस्कार सा करती हुई सखी-मुख से अपने पवित्र-प्रेम तथा अनन्य-साधन से युक्त प्रवास-हेतुक विप्रलंभ का सजीव वर्णन करवाती है, जिसमें राजमती की अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, कृशता, व्याकुलता आदि के साथ-साथ उसके उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, स्वप्न आदि दशाओं का अच्छा चित्रण किया गया है। पार्वती के समान राजमती की माता भी उसे समझाती-बुझाती है, परन्तु इससे उसकी व्यथा कम नहीं होती :—

मातुः शिक्षाशतमलमवज्ञाय दुःखं सखीना—
मन्तश्चित्तं व्वजनयदियं पाणिपंकेरुहाणि।
हस्ताभ्यां प्राक् सपदि रुदती रुन्धती कोमलाभ्यां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबला वेणिमोक्षोत्सुकानि॥१०६॥

स्वप्न में कभी-कभी प्रिय मिलन हो जाता है; बात करने की इच्छा से मुंह खोलती, परन्तु हाय! क्रूर कृतान्त को इतना भी सह्य नहीं है :—

रात्रौ निद्रां कथमपि चिरात् प्राप्य यावद्भवन्तं,
लब्ध्वा स्वप्ने प्रणयवचनैः किंचिदिच्छामि वक्तुम्।

तावत्तस्या भवति दुरितैः प्राक्कृतैर्मे विरामः,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥११३॥

ऐसी अवस्था भी क्यों न हो ? काम-देव का उसपर कोप भी तो बहुत है, परन्तु इसका कारण वह स्वयं नहीं। जब वह श्री नेमि के तप को प्रलोभनों से भंग कर न सका, तब उसने अपना बदला बेचारी 'अबला' से लिया; ठीक है बेचारी पार्वती को भी तो यही सहना पड़ा था :—

असह्यहुंकार-निवर्तितः पुरा
पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः।
इमां हृदि व्यायत पातमक्षिणो
द्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः।

इस प्रकार की व्यथा और वेदना सुनकर 'प्राणि-त्राण-प्रवण-हृदय' श्री नेमिनाथ भला कैसे न पसीजते। उनका हृदय दया से द्रवीभूत हो गया, परन्तु अर्थकाम परायण होने के लिये नहीं, अपितु धर्ममोक्ष के विस्तार के लिए; स्वयं नीचे गिरने के लिये नहीं, राजमती को अपने स्तर पर लाने के लिये :—

तत्सख्योक्ते वचसि हृदय-
स्तां सतीमेकचित्तां,
संबोध्येशः स्वभवविरतो
रम्य-धर्मोपदेशैः।

अतः नेमिदूत में जो रस-विस्तार पाया जाता है, वह रीति-कालीन शृङ्गारियों तथा अर्थकाम परायण प्रगतिवादियों की

आंख खोलने वाला होना चाहिये । भारतीय साहित्य में जिस शृङ्गार की महिमा है, वह ऐसे की ही, न कि इंद्रियलोलुपता बढ़ाने वाले विलास-प्रधान शृङ्गार की। धर्म–मोक्ष को ओर जाने वाला ही शृङ्गार व्यक्ति के चरित्र को उदात्त बना सकता है,, और मानव–व्यवहार में "रसो वै सः" को उतार कर मनुष्य-जीवन को सुन्दर, सत्य और शिव बनाता है । क्या हमारे साहित्य में शृङ्गार के इस आदर्श की पुनः स्थापना हो सकेगी ?
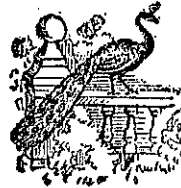
साहित्य और संस्कृति

(१)

मानव-समाज अपने को द्विधा व्यक्त करता है—एक तो स्थूल इन्द्रिय-भोग्य भौतिकता के रूप में, दूसरे सूक्ष्म, अन्त: करण-भोग्य आध्यात्मिकता के रूप में। यद्यपि दोनों में कोई मूल भेद नहीं है, परन्तु फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इनमें से प्रथम को प्राय: अन्त सुख देने वाल कहा जाता है और दूसरे को वाह्य सुख देने वाला; एक को 'संस्कृति' नाम दिया जाता है, दूसरे को 'सभ्यता'। मानव अन्त:-वाह्य, आत्म-अनात्म या जीव-देह का संघात है, अत: उसके लिये दोनों अनिवार्य्य एवं आवश्यक है—अंत: आदि के लिये संस्कृति' उतनी ही वांछनीय है, जितनी वाह्यादि के लिये 'सभ्यता'।

वाह्य-सुख भी तत्त्वत: अन्त: सुख ही है, इसलिये प्राय: 'सभ्यता' को साधन और संस्कृति को साध्य माना जाता है और इसी कारण सभ्यता की अपेक्षा संस्कृति को अधिक महत्व दिया जाता है। परन्तु, यथार्थ में, जिस प्रकार 'वाह्य' की नितान्त उपेक्षा कर के 'अन्त:' की स्थिति सम्भव नहीं, उसी प्रकार सभ्यता को ठुकरा कर संस्कृति नहीं रह सकती। दोनों में समन्वय रहने से, न केवल संस्कृति और सभ्यता, अपितु उनका विधाता समाज भी स्वस्थ और सबल रहता है।

स्वयं संस्कृति में भी ऐसे तत्त्व और ऐसी प्रवृत्तियां है, जिनमें समन्वय हुए बिना समाज का कल्याण असम्भव है।

मानव-चेतना के तीन तत्त्व—इच्छा (Affection), ज्ञान (Cognition) तथा क्रिया (Connation)—संस्कृति या सभ्यता के रूप में व्यक्त होते हैं। इनमें से सभ्यता में क्रिया की प्रधानता रहती है और संस्कृति में इच्छा तथा ज्ञान की। संस्कृति के विभिन्न अंग भी इच्छा और ज्ञान की प्रधानता की दृष्टि से दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—एक तो इच्छा प्रधान, जैसे काव्य, आदि; दूसरे ज्ञान-प्रधान, जैसे विज्ञान आदि। इन दो में से यदि पहले की अति हुई, तो समाज कोरा भावुक, हृदय-मात्रसा रह जावेगा: और यदि दूसरे की अति हो गई तो वह शुष्क मस्तिष्कमात्र हो जायगा। ये दोनों अवस्थाएँ समाज के लिये घातक हैं; अतएव समाज स्वाभवत: ही उक्त दोनों तत्त्वों के बीच समन्वय स्थापित करके इस संकट से मुक्त रहने का प्रयत्न करता है।

इन दो तत्वों की भाँति, संस्कृति के अन्तर्गत दो ऐसी प्रवृत्तियां भी हैं। जो उसको पृथक पृथक दिशा में खींचती है। इनको क्रमश: अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्ति कह सकते हैं। बहिर्मुखी प्रवृत्ति जहाँ संस्कृति को सभ्यता की चेरी बना कर उसके अस्तित्व को ही मिटाना चाहती है, वहां अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जड़,देह की आवश्यकताओं से आँखें मूँद कर सभ्यता के वृक्ष को समूल काटना और फलत: उस पर आश्रित या उसके द्वारा साध्य संस्कृति का गला घोटना चाहती है। समाज को इन दोनों प्रवृत्तियों में परस्पर समन्वय रखना आवश्यक हो जाता है; अन्यथा उसका सांस्कृतिक जीवन तथा उसके परिणाम-स्वरूप भौतिक जीवन भी संकटापन्न हो जाता है।

काव्य संस्कृति का एक अंग है। अत: उसमें भी उक्त समन्वय की आवश्यकता है। काव्य की सार्थकता इच्छा-तत्व की

प्रधानता में है; जब उसमें ज्ञान तत्व की प्रधानता हो जाती है तो वह केवल 'बौद्धिक व्यायाम' मात्र रह जाता है। साथ ही इच्छा तत्त्व की अभिव्यक्ति ज्ञान तत्त्व के बिना नहीं रह सकती—कुछ न कुछ विचार विमर्श, तर्क-वितर्क, संकल्प-विकल्प आदि का प्रत्यक्ष अथवा तदाश्रित प्रतीका और उपकरणों के रूप में अप्रत्यक्ष सहारा लिये बिना कोई भी रागात्मक अभिव्यक्ति असम्भव है।

अत: एक ओर तो यह भय रहता है कि काव्य कहीं दर्शन, व्याकरण या विज्ञान न बन जाय और दूसरी ओर यह डर रहता है कि काव्य में प्रयुक्त प्रतीक एवं उपकरण इतने कठिन न हो जायें कि पाठकों को उनकी रागात्मक अभिव्यक्ति का स्वाद लेना ही दूभर हो जाय। पहले प्रकार के उदाहरण, नाटक समय-सार, भट्टिकाव्य तथा द्विसंधान काव्य है और दूसरे प्रकार के नैषध, माघ, किरात आदि में मिल सकते हैं। प्रथम प्रकार के काव्य नीरस मरुस्थल हैं, जिनकी वस्तुत: काव्यों में गणना ही नहीं होनी चाहिये। दूसरे प्रकार के वे सरस उत्स हैं जिन तक पहुंचने के लिये मिट्टी, कंकड़, पत्थर आदि को मोटी तहें तोड़नी पड़ता है; ये चाहे सर्व साधारण के लिये न हों, परन्तु सहृदय पण्डित समाज के लिये नि:सन्देह उत्कृष्ट काव्य होते हैं।

बहुत से लोगों का विचार है कि जो काव्य जनसधारण के लिये नहीं है, वह काव्य ही नहीं, कोरी प्रतिगामिता है। सच पूछिये तो, दैहिक आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति में हम साम्यवाद भले ही बरत लें, परन्तु बुद्धि, भाव और अनुभूति के क्षेत्र में यह संभव नहीं। जिस प्रकार दर्शन, विज्ञान आदि मानव-समाज के बौद्धिक शिक्षण एवं विकास में उपयोगी हैं, उसी प्रकार

काव्य, कला आदि उसके रागात्मक शिक्षण एवं विकास में उपयोगी होता है; और यदि हमें मानव हृदय और मस्तिष्क [जो सब के एक से नहीं होते] की प्रगति अभीष्ट है, तो विभिन्न स्तर के हृदयों और मस्तिष्कों के शिक्षण के लिये काव्य आदि भी एक कोटि के नहीं हो सकते।

यह निर्विवाद है कि स्थूल, भौतिक, मांसल भोगों का सुख ही सर्व साधारण का विषय होता है, और इसी सन्दर्भ में उत्पन्न हास्य, शृङ्गार, वात्सल्य आदि ही उन्हें प्रिय हो सकते हैं; परन्तु यही तो अन्त नहीं है। उक्त भोगों के प्रति उदासीन महात्मा का मानवा के प्रति प्रेम, एक बालब्रह्मचारिणी का मानव-मात्र के प्रति वात्सल्य भाव, अपने भगवान के लिये भक्त की विह्वलता, सूफी फ़कीर का अतीन्द्रिय 'दरिया-ए-इश्क' और साधक का ध्यान-गम्य आनन्द भी तो मनुष्य [असाधारण ही सही] की अनुभूति के परे की वस्तुएँ नहीं हैं और उनको भी व्यक्त करने वाले कवि तथा इस अभिव्यक्ति में रस लेने वाले पाठक हो सकते हैं। यहाँ यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इस प्रकार के वर्ग-विशेष के काव्यों में प्रयुक्त प्रतीक या उपकरण सर्व-साधारण के लिये दुर्बोध होंगे, क्योंकि उन काव्यों के कलापक्ष का निर्माण एक ऐसे वातावरण में होता है जिसमें सर्वसाधारण की गति नहीं।

इस प्रकार सर्वसाधारण एवं वर्ग-विशेष के काव्य स्वभावत: एक दूसरे से भिन्न हैं। यह भेद बढ़ते समाज में विघटन की प्रवृत्तियों का सहायक हो सकता है; अत: इन दोनों प्रकार के काव्यों में भी समन्वय की आवश्यकता है प्राचीन भारत ने इसी कारण वेदों में, ब्रह्मानन्द एवं उसकी आनुषंगिक अनुभूति की

अभिव्यक्ति करने के साथ ही याज्ञिक प्रतीकवाद एवं नाट्य के रसवाद द्वारा वैदिक विषय और व्यवहार को 'सार्ववर्णिक'⊛ बनाने का प्रयत्न किया गया। आगे चलकर रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों में लौकिक और अलौकिक तथा भौतिक और आध्यात्मिक का समन्वय भी इसी दिशा में किया गया एक प्रयत्न है। वस्तुतः इसी प्रकार महात्माओं, पण्डितों और योगियों की आनन्दानुभूति छनछन कर जन-साधारण में पहुंच सकती है; इसी तरह काव्य या काव्य-रस के समाजीकरण* की आशा की जा सकती है।

(२)

वैदिक भारत के सांस्कृतिक समन्वय को नष्ट करके, जब तथा कथित देवपुत्रों या अमरपुत्रों ने अपने 'वेदवाद' द्वारा समाज को अर्थकामपरायणता की चरम सीमा पर पहुंचा दिया तो बार्हस्पत्यों, राजपुत्रों तथा गोपुत्रों ने, अपने अपने ढंगसे, आध्यात्मिकता की पुनः प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया; उपनिषद् तथा भगवद्गीता जैसे ग्रंथों और चार्वाक, जैन तथा बौद्ध मतों में इसी का समावेश है। इसी प्रकार के प्रयत्न ने इस महाद्वीप-कल्प देश में सांस्कृतिक एकता रक्खी और उसे एक राष्ट्रत्व प्राप्त करने के योग्य बनाया। इन प्रयत्नों को जिन शक्तियों और समस्याओं का सामना करना पड़ा वे मुख्यतः इसी भूमि की उपज थीं, यदि कभी किन्हीं बाह्य कारणों का इन पर कोई प्रभाव पड़ा भी तो वह किसी बाहरी आक्रान्ता या साम्राज्यवादी शक्ति के पद-दलन या शोषण का परिणाम न था। अतः उस समय भारत के सामने एक ही मूल-समस्या थी और वह यह कि भारतीयता-

---

⊛ विस्तार के लिये देखिये 'कवि और काव्य' पृ० २१-२७

* देखिये उसीमें ६१-६१

विरोधी या बाहरी प्रवृत्तियों को राष्ट्रीय संस्कृति के प्रवाह में किस प्रकार लिया जाय।

एक समय आया, जब विश्व की परिस्थितियाँ बदलीं और विभिन्न देशों में अतिचारी राष्ट्रीयता ने सिर उठाया; एक देश की सेना दूसरे देश पर आक्रमण करने लगी। भारत पर भी यूनानियों, हूणों, शकों आदि के आक्रमण हुए। इन आक्रमणों ने भारत के लिये कोई महती सांस्कृतिक समस्या नहीं उपस्थित की; वे तो केवल एक राजनैतिक समस्याओं के रूप में प्रकट हुए, जिनको सुलझाने में इस देश के चाणक्यों और विक्रमों को देर न लगी। परन्तु, एक युग ऐसा भी आया, जब आक्रान्ता केवल लूट-पाट या विजय-कामना से प्रेरित होकर ही आक्रमण नहीं करते थे, अपितु विजित जाति पर अपनी संस्कृति थोपना भी उनका उद्देश्य होता था।

इसी समय भारत ने देखा कि अरब के रेगिस्तान से एक भीषण आंधी उठी, जिसने बात की बात में मिश्र, सीरिआ, कार्थेज और अफ्रिका को आक्रान्त कर लिया। बोखारा, खोजन्द, समरकन्द तथा फरगाना पर भी उसका प्रकोप हुआ और वहां के निवासियों को झुकने पर बाध्य किया गया। बहुतेरे अपने धर्म और संस्कृति को छोड़ कर झुक गये, जो न झुके, उन्हें भाग कर भारत की शरण आना पड़ा। सन् ६३६–३७ ई० में समुद्री मार्ग से और ६४३-४४ ई० में स्थल मार्ग से, इसने भारत-भूमि को भी ईषत् स्पर्श किया। इसको देख कर, इससे उत्पन्न चीत्कार को सुन कर तथा उसके भयङ्कर स्पर्श को अनुभव कर भारत का हृदय काँप उठा, क्योंकि इस समय उसका मस्तिष्क कुण्ठित हो रहा था। और शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो रहे थे।

आंधियाँ पहले भी आई थीं परन्तु वे केवल राजनैतिक या आर्थिक आंधियां थीं; जिसके नायक या तो लूट-पाट कर के या किसी प्रदेश पर शासनाधिकार पाकर अपनी लिप्सा को शान्त कर लेते थे। परन्तु यह आँधी ऐसी न थी; नायकों को भी आर्थिक-लिप्सा और राज्य-लिप्सा थी, परन्तु इन लिप्साओं को प्रेरणा एवं प्राबल्य प्रदान करने वाली थी संस्कृति-प्रसार की अदम्य आकुलता। अतः इस समत भारत के आत्मरक्षा की जो समास्या उत्पन्न हुई वह लगभग पूर्णतया नई थी।

इस महान राष्ट्रीय संकट की आशंका से अवसन्न भारत ने कुछ प्रतिकार भी न सोच पाया था कि ७१२ ई० में मुहम्मद बिनकासिम के नेतृत्व में अरबों ने देबल, नेरून आदि राज्यों को जीतकर सिन्धु नदी को पार किया और, असीम वीरता एवं बलिदान के होते हुये भी, सारे सिन्धु-देशको विदेशियों से पादाक्रान्त होकर दासता की शृंखला में बँधना पड़ा। पग-पग पर देश-द्रोह, विश्वासघात तथा स्वार्थान्धता के उदाहरणों से प्रकट हो गया कि देश में पारस्परिक कलह ने बुरी तरह घर कर रक्खा है और राजनैतिक राष्ट्रीयता, देशभक्ति या धर्मान्धता, जैसी ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो भारतीयों को एक-सूत्र में बांधकर उन्हें सुसंगठित, धर्मान्ध एवं विजयोन्मत्त विदेशियों के सामने खड़ा कर सके। रावर को छोड़कर जहाँ दाहिर तथा उसके सैनिकों ने प्राण रहते शत्रु का अधिकार न होने दिया, अन्यत्र सिंधमें सर्वत्र जिस सुगमता से विदेशी आक्रांता को विजय प्राप्त हो गई, उससे भारत की आँखें खुल जानी चाहिये थीं। प्रजा को असहाय अवस्था में शत्रु के मुख में छोड़कर देवल के शासक का पलायन, नीरून राज्य द्वारा धन-जन देकर शत्रु की चापलूसी और ब्राह्मणाबाद द्वारा तुरंत आत्मसमर्पण—ये और ऐसी

ही अन्य घटनायें हुई, जिन से स्पष्ट हो गया कि भारत में प्रत्येक नगर और प्रत्येक प्रान्त अपने को अकेला समझता था और जनसाधारण के पास ऐसी कोई सार्वजनिक एवं सार्ववर्णिक निधि न थी, जिसे वह अपने प्राणों से अधिक प्रिय मानता हो तथा जिसके लिये वह हँसते-हँसते बलिदान हो सके न देश, न धर्म, न धन, न स्वातन्त्र्य।

राजनैतिक दृष्टि से खण्ड-खण्ड हुये उस भारतवर्ष में फिर भी सांस्कृतिक एकता थी। अतः क्षत-विक्षत भारत का मस्तिष्क फिर भी स्वस्थ होकर अपने रोग का निदान कर सकता था। अतएव एक मनीषी ने भारत की इस वस्तु-स्थिति को शीघ्र ही समझ लिया और उसको सुधारने के लिये निज जीवन की आहुति देने का संकल्प कर लिया। ये थे स्वामी शंकराचार्य। दासता की शृंखलाओं से भीत, त्रस्त, एवं जर्जरित होते हुये भी उन्हें दूर रखने या तोड़ फेंकने के लिये निरन्तर कृतसंकल्प एवं प्रयत्नशील भारत का यथार्थ इतिहास पोर्चुगीजों या अंगरेजों, तुर्कों या मुगलों के आने पर नहीं, अपितु इसी समय तथा इसी संन्यासी के हाथों प्रारम्भ होता है। उन्होंने देखा कि जिस नास्तिकता, या बहुदेववाद या भौतिकवाद के कारण अरब के शाबी, फिलस्तीन के सामी, ईरान के जोराथुष्ट्री तथा गांधार के बौद्धों को इस्लाम का लोहा मानना पड़ा, वही भारत के अणु-अणु में प्रविष्ट हुआ ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, स्वार्थपरता देशद्रोह, विश्वासघात, दम्भ, पाखण्ड आदि का कारण बना हुआ है। जहां उन्होंने ब्रह्मवाद एवं मायावाद द्वारा बहुदेववाद, नास्तिकता तथा भौतिकवाद को मिटा कर आध्यात्मिक एवं धार्मिक एकता का प्रचार किया, वहाँ तत्कालीन प्रमुख मतों के विरोध को मिटाने के लिये उन्होंने सामाजिक धर्म में एक ऐसे समन्वयवाद

को अपनाया, जिसने सांस्कृतिक एकता की नींव सुदृढ़ कर दी।

शङ्कर का यह प्रयत्न एक महान जन-आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ, जिसने सारे भारतवर्ष में एक ऐसी दार्शनिक एवं सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया, जो रीति-नीति में भिन्न होती हुई भी, प्रगति, प्रभाव और प्रकार में इस्लाम द्वारा उत्पन्न क्रान्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। बौद्ध-मत को आत्मसात् करने के लिये शङ्कर ने ब्रह्मवाद में शून्यवाद का जिस प्रकार समावेश करके "प्रच्छन्न बौद्ध" का नाम पाया, उसी प्रकार, यदि उस समय लोगों को पता होता कि अद्वैत ब्रह्म के जिस एकेश्वरवादी दर्शन का वे प्रचार कर रहे हैं, वह मुहम्मद साहब के 'अब्रह्म या इब्राहिम के मत' से कितना साम्य रखता है तो कदाचित उन्हें प्रच्छन्न मुसलिम भी कह दिया जाता। कुछ भी हो, सांस्कृतिक दृष्टि से शङ्कर का प्रयत्न भारत के लिये वही महत्त्व रखता है, जो मुहम्मद का अरब के लिये।

भारत की भारतीयता को बचाये रखने के लिये इस क्रान्ति ने जो काम किया उसका प्रभाव बहुत दूरगामी हुआ। यह इसी का प्रभाव समझना चाहिये कि जिन अरबों के आधिपत्य में आये हुए देशों में इस्लाम के अतिरिक्त अन्य कोई मत ही न रहने गया था, उन्हीं के खलीफा ने सिन्ध के ब्राह्मणों के आवेदनत्र के उत्तर में लिखवाया कि "उनको अपने देवताओं की पूजा करने की आज्ञा दी जाती है। किसी का भी अपने धर्म का पालन करने से वञ्चित न किया जाय। वे अपने मकानों में जैसे चाहें रहें।" इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप खलीफा मंसूर (७५३-७७४) तथा खलीफा हारूँ ने बगदाद में भारतीय विद्वानों को बुलवाया और उनकी विद्या का अत्यन्त आदर किया।

शङ्कर के इस भागीरथ प्रयत्न का सचमुच महत्त्व हल्लाज (९२१ ई०) के आविर्भाव से व्यक्त होता है, जिसने शङ्कर के 'अहं ब्रह्मास्मि' के स्वर में स्वर मिला कर 'अनहल्हक़' की अनुभूति प्राप्त की और 'अब्रह्म या इब्राहिम' के धर्म को भारत के ब्रह्मवाद में पाया। वस्तुतः यहीं पर इस्लाम की भारतीयता का समन्वय हो सकता था और इसी को लेकर न केवल अनेक सूफ़ी फकीरों ने अपितु कुतबन मंझन, जायसी, उसमान, शेखनबी, कासिमशाह, नूरमुहम्मद आदि अनेक सूफी कवियों ने भी इस्लाम और भारतीयता के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

(३)

हिन्दी साहित्य के आदि काल में दो धाराएँ चल रही थीं—एक भौतिकवादी अर्थ-काम-परायणता को अपनाने—वाली और दूसरी आध्यात्मवादी धर्म–मोक्ष–परायणता को अपनाने वाली। पहली के पोषक थे असंख्य रजवाड़े जिन में देश खण्ड-खण्ड हो कर बटा हुआ था और जिनके आश्रय में रह कर कवि लोग 'वीर गीत' या 'प्रबन्ध काव्य' लिखा करते थे; दूसरी धारा के उन्नायक थे असंख्य साधु सन्त जो विभिन्न राजनीतिक इकाइयों में विभक्त देश में सांस्कृतिक एकता बनाये हुए चल रहे थे। इन दोनों धाराओं में पर्याप्त समन्वय था-यद्यपि दूसरी धारा पहली का अर्थकामपरायणत को गर्हित और त्याज्य समझती थी, परन्तु पहली धारा दूसरी को चरम लक्ष्य मान कर आदर की दृष्टि से देखती थी। साधु- सन्त अर्थकामपरायणता को सर्व साधारण के लिये स्वाभाविक समझते थे और उन्हें इसी में सन्तोष था कि इसमें सने हुए लोग (राजा और धनिक भी) उनके महत्त्व को स्वीकार करते हैं और अपनी अर्थकामपरायणता को साध्य नहीं मानते। सभी राजा साधु सन्तों के कामों में

अत्यन्त सहायक थे, अतः उन्हें इसकी चिन्ता नहीं थी कि 'कौन राजा है या कितने राजा हैं ।'

इस समय शंकर एवं कुमारिल के प्रयत्नों से देश के हिन्दू मतमतान्तरों की विविधता में एकता तो देखी जाने लगी थी, परन्तु समाज का आर्थिक एवं राजनैतिक ढांचा ज्यों का त्यों बना रहा। अरबों तथा उनके खलीफाओं की उक्त उदारता तथा ब्रह्मवाद एवं मायावाद द्वारा उत्पन्न भौतिकता की उपेक्षा ने राजनैतिक उथल-पुथल के प्रति जन-साधारण को उदासीन बना दिया था। साथ ही जो मुसलमान शासक भारत में आये उनमें से अधिकांश ने भारत को अपना देश बना लिया; उन्होंने यहां के आर्थिक धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में व्यापक एवं अनवरत हस्तक्षेप भी न कर पाया, क्योंकि शंकर एवं कुमारिल के सावधान-कारक तथा कबीर और नानक आदि के ऐक्य-विधायक प्रयत्नों ने उन्हें उदार होने के लिये विवश कर दिया।

अतः राज-साहित्य (राजाश्रित कवियों का साहित्य) तथा जन-साहित्य (जनता के साधु-सन्तों का साहित्य) में यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत भेद पड़ गया था—एक राज्य शक्ति के लिये चिन्तित और सक्रिय था, दूसरा कहता था 'कोई होय निरप हमैं का हानी ।' यही कारण था कि जयपाल, पृथ्वीराज, सांगा आदि के नेतृत्व में देश के सामूहिक प्रयत्न भी विदेशियों की बाढ़ रोकने में समर्थ न हो सके। उत्साह-हीनता, देश-द्रोह, विश्वासघात, स्वार्थसाधन आदि की प्रवृत्तियां जो इनमें तथा आगे के प्रयत्नों में बाधक बनी उनका एक कारण यह भी था कि जनता में उक्त मनोवृत्ति काम कर रही थी। मुगलकाल में जब देश में शांति और व्यवस्था स्थापित हुई, तो एक ओर राजदर-बारों में शृंगार की बाढ़ आई और दूसरी ओर साधु-सन्तों ने

जनता में भक्ति-रस की वर्षा आरम्भ की। इस युग की सरसता इस से पूर्ववर्ती युग की वीरत्व-प्रधान सरसता और ज्ञान-प्रधान नीरसता से पूर्ण विपरीत थी। जहां पहले राजकवि वीररस के आश्रय में शृङ्गार रस को भी ले आते थे, वहाँ अब शान्त वातावरण को पाकर वे वीररस को अपेक्षाकृत तिलाञ्जलि देकर शृङ्गार की चुटकियों से मन बहलाने लगे; उसी प्रकार अब साधु-सन्त भी योगियों, सिद्धों आदि की ज्ञान-प्रधानता को छोड़ कर तत्कालीन वातावरण के अनुकूल जनता को भक्ति से ओत-प्रोत करने लगे। इस प्रकार शंकर एवं कुमारिल की भांति ही सूर और तुलसी के तुल्य महात्मा कवियों को भी रानैतिक अथवा आर्थिक प्रश्न कोई महत्त्व के न जान पड़े—अध्यात्मत्त्व के अधिकाधिक प्रचार में ही उन्होंने अपने जीवन को सार्थक समझा और विद्वानों की राजनैतिक अवस्था के प्रति उदासीनता ज्यों की त्यों चलती रही।

समाज की यह मनोवृत्ति इस्लाम और भारतीयता में समन्वय स्थापन करने के लिये अत्यन्त अनुकूल थी और यह सफल भी हो गई होती, परन्तु देश का दुर्भाग्य था कि दिल्ली के तख्त पर दाराशिकोह न बैठकर औरङ्गजेब बैठा। उसकी धार्मिक कट्टरता तथा हिन्दु-द्वेष ने साम्प्रदायिक कटुता को चरम सीमा तक पहुंचा दिया, जिसके परिणाम स्वरूप एक बार फिर वीररस साहित्य में अवतीर्ण हुआ और, मतिराम एवं भूषण की वाणी ने देश की अलस आँखों को खोला, परन्तु केन्द्रीय-सत्ता के न होने पर देश में फिर छोटे छोटे राज्य चैन की बन्सी बजाने लगे और घोरतम शृङ्गार को आश्रय देने लगे। साधु-सन्तों की भक्ति धारा में चुपके-चुपके शृङ्गार ने प्रवेश करके अपना अड्डा जमा लिया। इस तरह शृङ्गार के कोमल गद्दियों पर सोया हुआ

देश पराधीनता की प्रतीक्षा में था; अत: पराधीन होने पर उसको कोई आश्चर्य भी न हुआ। परन्तु, अबकी बार के विदेश शासक मुसलमानों से भिन्न थे। उन्होंने देश पर न केवल राजनैतिक अपितु सांस्कृतिक आधिपत्य भी जमाना चाहा।

(४)

फिरंगी संस्कृति, जो मुगल शासन के लगभग साथ ही भारत में घुसी, औरंगजेब के पश्चात् अच्छे प्रकार से सर उठाने लगी। यह संस्कृति इस्लाम की भांति आंधी बनकर नहीं, नन्हीं नन्हीं बूँदों की फुहार बनकर आई; अत: इसके प्रति भारत की प्रतिक्रिया देर में प्रगट हुई। जब तक फिरंगी लोग व्यापारी रहे, तब तक इनकी संस्कृति के प्रचारक पादरियों को पूर्णतया निर्दोष समझा गया, परन्तु ज्यों ज्यों वे व्यापारी से शासक बनते गये, त्यों त्यों उनके पादरियों की भयंकरता प्रकट होने लगी। फिर भी प्रारम्भ में यह केवल दक्षिण भारत में यत्र तत्र स्थानीय समस्या के रूप में ही प्रकट हुई और उसका जो प्रतिकार भी हुआ वह केवल अस्थायी एवं स्थानीय था जिसका शेष भारत को कुछ भी पता नहीं चला। भारतवर्ष ने इस संस्कृति की घातकता को अच्छी प्रकार तब पहचाना, जब अँग्रेजों को अपनी कूटनीतिज्ञता से लगभग सारे देश पर शासन करने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। इसी समय भारत ने अपनी संस्कृति को फिरंगी प्रभाव से बचाने के लिये सर्व प्रथम ऐसा प्रयत्न किया जो कुछ व्यापक तथा स्थायी हो सका।

दयानन्द का प्रयत्न—

यह प्रयत्न प्रारम्भ में तो प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों के बीच एक समझौता सा था, जो विदेशी शासन को आवश्यक एवं

नहीं, अपितु एक पूरी जाति, एक पूरे समाज की स्वार्थ सिद्धि के लिये ही रहा था। अतः पिछले शासकों के विपरीत, इन लोगों ने भारत को अपना देश कभी नहीं बनाया; इनका शासन सदा ही भारत के आर्थिक शोषण के लिये रहा। इनका स्वसंस्कृति-प्रचार भी, इस्लाम की भांति सत्य-प्रचार की भावना से प्रेरित होकर नहीं था, जो इस युग के शंकर (दयानन्द) के सत्य से प्रभावित या आतंकित हो जाता; उसका लक्ष्य तो उक्त साम्राज्य-वादी शोषण को चलाने वाली शासन- व्यवस्था को सुदृढ़ तथा सबल बनाना था। फिरंगी संस्कृति तथा फिरंगी-शासन के अन्योन्याश्रित होने को स्वामीजी ने सम्भवतः समझ लिया था और यह अनुमान भी सर्वथा असंगत नहीं हो सकता कि स्वामी जी का देशी राजाओं के संसर्ग में आना किसी राजनीतिक लक्ष्य को लिये हुए था और उनको विष दिलाने में किसी व्यक्ति विशेष का ही नहीं, अपितु क्रूर एवं कूटनीतिज्ञ फिरंगी सरकार का भी हाथ था।

दूसरे, जब दयानन्द ने काम प्रारम्भ किया, तब १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य-संग्राम से फिरंगियों को यह प्रकट हो गया था कि कि उन्होंने अपने साम्राज्यवाद को सुदृढ़ करने के लिये राज-नीतिक एवं सांस्कृतिक दासता स्थापित करने के जो प्रयत्न कर रक्खे हैं, उनकी सफलता के लिये न केवल स्वयं उनमें अधिक प्रगति एवं प्रवाह की आवश्यकता है, अपितु भारत के विभिन्न वर्गों तथा सम्प्रदायों में भेद-बुद्धि फैलाना और अपनी कूट-नीति को पैना रखना भी अत्यन्त आवश्यक है। अतः इस युद्ध में जहाँ शासन-चक्र को सुदृढ़ बनाने के लिये सेना, पुलिस, रेल, तार आदि का अत्यधिक विस्तार हुआ और फिरंगी-संस्कृति को फैलाने के लिये अँग्रेजी स्कूलों ईसाई मिशन की विभिन्न संस्कृति

तथा अन्य सरकारी या गैरसरकारी प्रयत्नों में वृद्धि की गई, वहाँ हिन्दू मुसलमानों में भेद-बुद्धि को उत्पन्न करने के लिये भी असीम धन, जन और मन को लगाया गया। यह भेद-नीति अँग्रेज तो पहले से ही अपना रहे थे, जिसके फलस्वरूप इस समय सर सैय्यद अहमद जैसे राष्ट्रीय मुसलमान भी हिन्दी को "गँवारी बोली" कहकर 'वर्नाक्यूलर' स्कूलों तक से उसे निकाल फेंकने में प्रयत्नशील थे और उनकी पीठ पर फिरंगियों का कैसा वरद-हस्त था, यह गार्सां द तासी के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है—"मैं सैयद अहमदखाँ जैसे विख्यात मुसलमान विद्वान् की तारीफ में और ज्यादा नहीं कहना चाहता। उर्दू भाषा और मुसलमानों के साथ मेरा जो लगाव है वह कोई छिपाई हुई बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी किताब मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा को भी अस्वीकार नहीं करते, पर हिन्दू लोग मूर्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा को नहीं मानते।" यही नहीं उसने अपने स्वार्थ-परायण मन्तव्य को और भी खोलकर कह दिया कि, "हिन्दी में हिन्दू-धर्म का आभास है—वह हिन्दू धर्म जिसके मूल में बुत-परस्ती और उसके आनुषंगिक विधान है। उसके विपरीत उर्दू इस्लामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इस्लाम भी 'सामी' मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धान्त है इसलिये इस्लामी तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएँ पाई जाती हैं।" इन उद्धरणों में जो भेद-नीति दिखलाई पड़ती है, वह एक व्यक्ति की नहीं सारे फिरंगी साम्राज्यवाद की आवाज है, जो आगे चलकर कर्जन की बंग-भंग योजना, मिन्टो-मार्ले-सुधार के पृथक निर्वाचन, अटक साम्प्रदायिक दंगों, १९३२ के सम्प्रदायिक निपटारे' (Commemal Award) तथा अन्त में भारत-

विभाजन एवं उसके साथ भयङ्कर नर-संहार के रूप में प्रकट हुई ।

तीसरे, स्वामीजी केवल १८-१९ वर्ष ही आन्दोलन चला पाये और उनकी आकस्मिक, अप्रत्याशित और अकाल मृत्यु होने से, उन्होंने अपना पूरा कार्य-क्रम भी देश के सामने न रख पाया था । उनके पीछे उनके अनुयायियों ने स्वामीजी के 'पाखण्ड'खण्डन' को ही प्रमुख ध्येय बना लिया, जिसके कारण न केवल रचनात्मक कार्यक्रम जो इससे कहीं अधिक महत्त्व का था, उपेक्षित हो गया, अपितु जो कुछ थोड़ा बहुत किया भी गया उसमें जनता ने पर्याप्त सहयोग तथा उत्साह नहीं दिखाया। यद्यपि पं० लेखराम, स्वा० श्रद्धानन्द तथा लाला लाजपतराय जैसे बड़े योग्य नेताओं को आर्यसमाज ने जन्म दिया, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि ऐसा कोई नेता न हुआ, जो वैसी ही दूरदर्शिता, विशाल-हृदयता उच्चाशयता तथा व्यापक दृष्टिकोण से भारत की परिस्थितियों को समझने का प्रयत्न करता और फिर 'भारतीयता' की रक्षा के लिये केवल स्वामीजी के 'शब्दों' को ही नहीं उनके भीतर व्याप्त परम 'उद्देश्य' को भी समझने का प्रयत्न करके आवश्यकतानुसार कार्यक्रम तथा उसकी रीति-नीति में उचित परिवर्त्तन भी करता।

अस्तु, भारतीयता को शुद्ध, प्रबुद्ध एवं सुदृढ़ बनाने के लिये पुनर्निर्माण एवं पुनर्जागरण की जो परंपरागत पद्धति चली आ रही थी उसमें 'स्वराज्य' के महत्त्व को सब से पहले दयानन्द ने समझा और, यद्यपि आर्यसमाज ने राजनीतिक कार्यक्रम नहीं अपनाया अथवा (स्वामीजी की अकाल मृत्यु के कारण न अपना पाया, फिर भी स्वदेश, स्वभाषा और स्व-

संस्कृति के लिये भारत की 'भारती' में जो प्रचण्ड ज्वाला प्रकट हुई उसका मूल श्रेय दयानन्द को ही मिलना चाहिये। दयानन्द-युग के वातावरण में उत्पन्न गांधी ने भी 'स्वराज्य' की आवश्यकता को अनुभव किया, परन्तु भारतीयता (जो उनके लिये सत्य एवं अहिंसा में मूर्तिमान थी) को खोकर उन्हें वह भी इष्ट न था। दयानन्द युग की इस प्रवृत्ति से अनुप्राणित होते हुये भी, गांधी युग ने राजनीतिक आर्थिक प्रश्न को, सांस्कृतिक प्रश्न की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया, क्योंकि यह देखा गया कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद भी भेद-नीति इतनी सफल हो चुकी थी कि देश केवल भौतिक स्तर (राजनीतिक आर्थिक स्तर) पर ही अधिक से अधिक एकत्र हो सकता था। विदेशी साम्राज्यवाद द्वारा सांस्कृतिक जीवन के क्षत-विक्षत हो जाने के कारण आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों को भारतीय जीवन में जो सर्वो-परिता मिल गई थी, उसे समाजवादी, साम्यवादी तथा जड़वादी विचार-धारा ने और उत्तेजना दी। अतः अज्ञात रूप से भारत के जीवन में 'भारतीयता' पिछड़ गई और विदेशी भौतिकता आविराजी, सत्य और अहिंसा की घोषणा होते हुये भी छद्म और फूट ने अड्डा जमाया, गांधी जी द्वारा कर्त्तव्य-निष्ठा पर जोर दिये जाने पर भी अधिकार लिप्सा का बोलबाला हुआ, विनय, आर्जव आदि गुणों से संपन्न महात्मा का अनुगमन करते हुये भी हमें अविनय, पाखण्ड और आडम्बर ही भाया।

आज जिस भारतीय जीवन की अभिव्यक्ति हमारे साहित्य में हो रही है उसका यही चित्र है। इस जीवन से देश की आत्मा क्षुब्ध है और क्षोभ की अभिव्यक्ति भी अनेक रूपों में प्रकट हो रही है, जिसके फलस्वरूप वस्तु स्थिति को ठीक करने के लिये प्रयत्न भी जारी हैं परन्तु, दुःख है कि वे प्रयत्न अभी उन पुराने

मार्गों पर हो चल रहे हैं जो साम्राज्यवादी शक्ति ने बनाये थे। आवश्यकता है भारतीयता को समझने की—भारत की आत्मा को जानने की, अन्यथा रोग का निदान होना असम्भव है, और रोग का निदान ठीक हुये बिना कोई चिकित्सा सफल नहीं हो सकती। अतएव भारतीय संस्कृति के स्वरूप को निर्धारित करना तथा उसकी रक्षा में दत्तचित होना देश की परम आवश्यकता है।

सौन्दर्य और उसका शास्त्र

(क) शिशु

गांव की एक धूल-भरी गली में, एक नन्हाँ सा शिशु खेल रहा था—सुन्दर, सलोना, परन्तु धूल-गोबर से सना।

राह चलते हुये दो पथिकों में से, एक के पैर उसे देखते ही रुक गये। "अहह ! कैसा सुन्दर है यह शिशु !!" वह बोल उठा।

"हाँ" दूसरे पथिक ने चलते-चलते कहा, परन्तु वह ठहरा नहीं। पहला पथिक उसे अपलक नेत्रों से निरखता रहा। उसका चलना बन्द हो गया। निहारते-निहारते वह शिशु के पास गया। उसने पुचकारा जेब से निकाल कर मिठाई दी और गोद में उठा लिया।

पास ही एक दूसरा बच्चा भी खेल रहा था, उसने भी अपनी नन्हीं नन्हीं 'बँहियां' उठाईं और पथिक की ओर चाह-भरी निगाह से देखा। परन्तु, पथिक ने उसकी तनिक भी परवाह न की—वह उसी सुन्दर बच्चे को ही चूमता रहा,—प्यार करता रहा आनन्द-विभोर होकर।

पथिक की इस सौन्दर्य्यानुभूति का साधारण विश्लेषण करने पर भी निम्नलिखित बातें सामने आती हैं :—

(१) सुन्दर शिशु ने पथिक को आकर्षित किया और असुन्दर प्रयत्न करके भी उसे आकर्षित न कर सका—सुन्दर

प्रमेय (विषय) में आकर्षकत्त्व होता है ।

(२) दूसरा पथिक शिशु के सौन्दर्य्य को स्वीकार करते हुये भी उतना आकर्षित नहीं हुआ—सौन्दर्य्यानुभूति केवल प्रमेय (सुन्दर शिशु) के आकर्षकत्व पर ही नहीं प्रमाता (पथिक) के आकर्षणीयत्व पर भी निर्भर है।

(३) यह आकर्षण तभी संभव हुआ, जब पथिक ने शिशु को देखा, उसकी जीवित और जागृत इंद्रियों से विषय भी संनिकर्ष हुआ—सचेतन इंद्रिय-संनिकर्ष होने पर ही 'आकर्षण' संभव होता है ।

(४) सुन्दर शिशु को देखते ही पथिक के मन में एक अनुभूति हुई, जिससे प्रेरित होकर वह बोला, "अहह कैसा सुन्दर है यह शिशु!"—सुन्दर को देखकर कर एक सुखद अनुभूति होती है ।

(५) पथिक केवल इस सुखद अनुभूति से ही संतुष्ट नहीं होता, वह निहारने, निरखने, चूमने, पुचकारने आदि को विवश हो जाता है और अपने हृदय की गुद गुदी दूसरे से भी व्यक्त करता है—अनुभूति की अभिव्यक्ति आवश्यक है ।

(६) शिशु को वह गोद लेने आदि के लिये, वह विवश सा हो गया—सुन्दर विषय को अपनाने की चाह होती है ।

अतः पथिक की सौन्दर्य्यानुभूति में मूलतः दो पक्ष हैं—(१) प्रमेय (विषय) का आकर्षकत्व तथा प्रमाता का आकर्षणीयत्व । इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध निम्नलिखित अवस्थाओं में प्रकट होता है :—

(१) सचेतन इंद्रिय-संनिकर्ष

(२) अनुभूति

(३) अभिव्यक्ति

(४) अपनाने की चाह

(ख) फूल

शिशु भी सुन्दर है और फूल भी। परन्तु, फूल तथा शिशु में थोड़ा सा भेद प्रतीत होता है—शिशु अपने प्रमाता (पथिक) को उत्तर देता है, वह अपने हाथ उठा सकता है, हँस सकता है रो सकता है, भाग सकता है, परन्तु फूल के व्यापार में ऐसी विविधता, ऐसी सचेतनता तथा ऐसी भाव-प्रवणता कहां? अतएव फूल से होने वाली सौन्दर्य्यानुभूति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस विषय में निम्न लिखित कविता का सहारा लिया जा सकता है :—

फूल के प्रति

१

उफनाती सुषमा के बुद् बुद् ! अंग—अंग मुसकाते।
मीठे—मीठे मादकतामय निःस्वन गान सुनाते ॥
सरस हृदय के चंचल चित में चुम्बन—चाह जगाते।
किसे चूमने को हँस—हँस कर कोमल होंठ उठाते ॥

२

किसी ऐन्द्रजालिक ने क्या यह रची तुम्हारी काया ?
अहो! कौन आकर्षण या संमोह ? कौन सी माया ?

कैसी चाह विचित्र अरे ! यह तुम को अपनाने की ?
निज अंतस में रखने, तुममें घुल—मिल रमजाने की ?

(३)

है चुम्बन की चाह ? नहीं, उससे नित नव बढ़ ताजी।
आलिंगन ! ओ आलिंगन से, भी तो तृप्ति न पाती ॥
निर्दय भौतिक मिलन, तुम्हारी रूप श्री कुम्हलाती ।
रहती चाह अतृप्त, विकलता मेरी बढ़ती जाती ॥

(४)

बोलो मेरे फूल ! कहो, मेरी वाणी में बोलो ।
तुममें कैसे मिलूँ समाऊँ, भेद मनोरम खोलो ॥
'तुम मेरे हो' मैं कहता हूँ, तुम भी कहदो तुम मेरे ।
'एक अहम् हो हँसे है' जब विहँसे उषा सवेरे ॥

यहां कवि एक पुष्प को देखता है । उसे ऐसा लगता है कि विश्व के सारे सौन्दर्य्य में उफान आया है । और उसी में उठते हुये बुद बुदों में से एक बुदबुद उसके सामने है, जिसे वह फूल कहता है और जिसके अंग—अंग को वह मुसकाता हुआ सा देखता है । इसी फूल (प्रमेय) से नेत्रेन्द्रिय-संनिकर्ष होने पर कवि (प्रमाता) में एक अनुभूति का विभावन 'होने' लगता है—प्रथम तो उक्त चाक्षुष सौन्दर्य्य की अनुभूति होती है, तदनन्तर वहीं एक अतीन्द्रिय या अर्द्ध अतीन्द्रिय अनुभूति में परिणत हो जाती है और कवि को एक मदिर, मधुर, परन्तु निःस्वन गान सा सुन पड़ता है। इस सारी अनुभूति की अभिव्यक्ति

प्रमेय या विभाग (फूल) को लक्ष्य करके एक 'विचित्र चाह' के रूप में होती है—यह चुम्बन, आलिङ्गन आदि भौतिक संपर्कों की चाह नहीं यह प्रमेय या विभाव का अपनाने की चाह है, संभवत उसमें घुल मिल कर रमने या उसके साथ 'एक—अहम्' होने की चाह है उक्त अनुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति की एक दूसरा व्यक्तीकरण या चित्रण भी होता है; वह होता है समाज को लक्ष्य करके। यही हमें प्रस्तुत कविता के रूप में देखने को मिला है।

इस विवेचन से कई प्रश्न स्वभावत: ही उत्पन्न होते हैं। विभावन का क्या स्वरूप है ? उसका कारण क्या है ? कवि ने जिसे आकर्षण, समोह या माया कहा है, वह वास्तव में क्या है और कैसा है ? उसका आधार क्या है ? उसका प्रयोजन क्या है ? वह विभावन का कारण क्यों और कैसे बनता है ? उस विभावन द्वारा विभावित अनुभूति का क्या स्वरूप है और वह कहां से और क्यों आती है ? इस अनुभूति की अभिव्यक्ति 'विभाव' को लक्ष्य करके क्यों होती है और उसमें विभाव क्या हित या अहित है ? समाज को लक्ष्य करके भी अनुभूति की अभिव्यक्ति क्यों होती है ? इस प्रकार की अनुभूतियों या अभिव्यक्तियों का कौनसा सामाजिक हेतु या उपयोग है ? क्या अनुभूति और अभिव्यक्ति स्वाभाविक है ? क्या अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के समान ही 'विभावन' भी एक सचेतन अथवा सज्ञान व्यापार है ? विभाव और प्रमाता में ऐसा कौनसा अदृश्य तत्त्व है, जो इस सारे व्यापार को जन्म देता है ? कौनसा ऐसा तत्त्व है जो इस व्यापार में बाधक होता है ?

इसी प्रकार के अनेक प्रश्नों की शृंखला सत्यान्वेषी मानव मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक है—एक प्रश्न शृंखला जो सौन्दर्य-

तत्त्व को खोजते खोजते विभाव एवं प्रमाता के मूल-तत्त्व तक पहुंचने की महत्त्वाकांक्षा रखती हुई सी प्रतीत होती है। अतः ज्ञान और विज्ञान की दृष्टि से यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण शोध एवं साधना है। इसी साधना के पथ पर ले जाने का प्रयत्न करना ही सौन्दर्य्य-शास्त्र का लक्ष्य है, मानव के इस महान् अध्यवसाय में सहायता पहुंचाना ही इसका प्रमुख प्रयत्न है।

(ग) दृष्टिकोण

इस शास्त्र में दो दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है—एक तो विभाव की दृष्टि से दूसरे प्रमाता की दृष्टि से। प्रायः देखने में यह आता है कि विभाव पक्ष से विचार प्रारंभ करने वाले भौतिक दृष्टि कोण अपना लेते हैं और प्रमाता पक्ष को लेकर चलने वाले आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर जा पहुंचते हैं। अतएव अभीतक जितने सौन्दर्य्यशास्त्री हुये हैं—अथवा अभी तक जितनों ने सौन्दर्य्यशास्त्र पर लेखनी उठाई है, उनको दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) भौतिकवादी और (२) अध्यात्मवादी।

भौतिकवाद—भौतिक दृष्टि (जो यथार्थतः व्यावहारिक दृष्टि है) से, सौन्दर्य्य का आधार 'विभाव' है, अतः उसी के अंगों में उसकी खोज की जाती है। श्री मद्रूप गोस्वामी ने, इसी विचार से, कहा :—

भवेत सौन्दर्यमङ्गानां संनिवेशोयथोचितम् इसी यथोचित संनिवेश' को क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य विचार चर्चा में

'उचित-स्थान-विन्यास' कहा है और संभवतः इस दृष्टि* से 'औचित्य' ही सौन्दर्य्य माना जा सकता है यदि ध्यान से देखा जाय, तो अरस्तू द्वारा प्रति पादित 'सौन्दर्य्य के अंग'—सम्मात्रा (Symmetry), व्यवस्थित क्रम (orderly arrangement) तथा निश्चित आकार (certain magnitude) इसी 'औचित्य' के अन्तर्गत आजाते हैं। होगार्थ ने जब रेखा, रूप, रङ्ग एवं कर्म के सौन्दर्य्य-मीमांसा की भित्ति वस्तु की क्षमता (fitness), विचित्रता (variety), सम्मात्रा (Symmetry), स्पष्टता (distinctiveness), जटिलता (intricacy), और विशालता (magnitude) पर खड़ी की, तो भी वह 'औचित्यवाद' की सीमा को न लांघ सका। यही बात वस्तु के विभिन्न अंगों में स्थित पारस्परिक सम्बन्ध में सौन्दर्य्य देखने वाले* डाइदेरो और उस वर्क के विषय में कही जा सकती है, जो आकार-सूक्ष्मता (Smallness of size), मसृणता (Smoothness), क्रमिक विकार (gradual-variation) कोमलता (delicacy), वर्ण-प्रदीप्ति (Brightness of Colours) तथा शुद्धता (purity) को 'सौन्दर्य्य के उपादान' स्थिर करता है, और रिचार्ड प्राइस के इकसांपन (uniformity), वैचित्र्य (variety), व्यवस्था (order) तथा सम्मात्रा (Symmetry) एवं क्रूसाज के वैचित्र्य, एकत्व, एकसाँपन, व्यवस्था तथा अनुपात में सौन्दर्य्य के उपकरण ढूँढने के विषय में भी यही मत लागू होता है। वस्तुतः बात

---

*तु० क० औ० वि० च० श्लो० ३; ६, पृ० ११५; ना० १४,६८; ध्व० ३, १३ आदि।

* Beauty Consists in the perceptions ofrelations Diderot.

यह है कि ये सभी विद्वान् 'विभाव' या वस्तु के आकार प्रकार, अंग प्रत्यंग तथा रूप-रंग आदि में ही सौन्दर्य्य की खोज करते रहे और घूम फिर कर किन्हीं न किन्हीं औचित्यों को ही सौन्दर्य्य का कारण मानने लगते हैं।

कुछ ऐसे भी विद्वान हैं, जो विभाव (वस्तु) के आकार-प्रकार आदि तक ही सीमित न रहकर कुछ आगे बढ़े हैं, परन्तु फिर भी अपने दृष्टि कोण को भौतिकवादी बनाये रक्खा है। अतएव डा० जेराड जहाँ 'विभाव' की दृष्टि से आकृति-सौन्दर्य्य (Beauty of Figure) तथा वर्ण-सौन्दर्य्य (Beauty of Colour) को मानता है, वहाँ वह प्रमाता (अनुभू) को ध्यान में रखकर उपयोग-सौन्दर्य (Beauty of utility) भी मानता है इसी प्रकार डा० सली वस्तुगत सौन्दर्य (Relational or formal) के अतिरिक्त प्रमाता के इन्द्रिय-जन्य (sensuous) तथा साहचर्योद्भूत (Associative) मानस-सौन्दर्य्य (beauty of meaning or expression) को भी मानता है। एलीसन, जेफ्रे तथा बेन - आदि 'साहचर्य-नियम' (Law of Association) को मानने वाले विद्वान, यद्यपि विभाव (वस्तु) को सौन्दर्य्य-मीमांसा से बहिष्कृत करते हुये से प्रतीत होते है, परन्तु यथार्थ में उनके मत में भी प्रधान स्थान विभाव को ही प्राप्त है, क्योंकि उनके मतानुसार जो सुखद अनुभूतियाँ साहचर्य-नियम द्वारा जागृत होकर सौन्दर्य्य का कारण बनती हैं वे वस्तुतः और अनिवार्यतः विभाव (वस्तु) को लक्ष्य करके ही उपजती और सञ्चित होती हैं। पेरवस्की महोदय यद्यपि विभाव को छोड़ने का प्रयत्न करते हैं। और सौन्दर्य्य का कारण विभिन्न जातियों एवं विभिन्न प्राणिवर्गों के परस्परभिन्न सौन्दर्य्य-आदर्शों में देखते हैं, परन्तु उनका भी यह प्रयत्न सफल नहीं होता, क्योंकि अंतता-

सत्ता ये आदर्श भी तो विभिन्न विभावों से ही चिपके हुये हैं। अतः प्रथा और आदत को ही सौन्दर्य्य-हेतु मानने वाले लार्ड केम, विलियम शेन्स्टन तथा अब्राह्म ट्यूकर की भाँति, बर्की महोदय भी सौन्दर्य्य को मानुव के भौतिक व्यवहार से ही सम्बद्ध करते हैं।

इन्हीं सौन्दर्य्यशास्त्रियों से मिलते जुलते वे विद्वान हैं जो अपनी मीमांसा में विभाव विशेष को महत्त्व न देकर विभाव-सामन्य अथवा प्रकृति को देते हैं। इस वर्ग में सर्व प्रथम रेनाल्ड्स का नाम लिया जा सकता है। उनके मतानुसार प्रत्येक प्राणी और पौदे की प्रकृति उसके पूर्व-निर्णीत रूप की ओर लिये जा रही है, और यदि हम उनके रूपों में सौन्दर्य्य देखते हैं, तो केवल इसलिये कि हम ऐसा करते आये हैं; हमारी यह आदत उसी प्रकार की है, जिस प्रकार 'हाँ' से स्वीकृति और 'ना' से निषेध का ज्ञान होना। डार्विन के मतानुसार प्राणियों या पौदों के रूप रंग में पाये जाने वाले सौन्दर्य्य का कारण है प्रकृति-निर्वाचन और उसका उपयोग है वंश-वृद्धि के लिये आवश्यक लिङ्ग-निर्वाचन। मनुष्य आदिम काल से कन्द, मूल, फल खाते-खाते पेड़-पौदों के रूप-रंग में सौन्दर्य्य देखने लगा; इसी सौन्दर्य्य से आकृष्ट होकर वह अथवा पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणी उनके (पेड़-पौदे) बीजों के स्थान-परिवर्तन आदि द्वारा उनकी वंश-वृद्धि में सहायक होते हैं। फूलों का सौन्दर्य्य मानों उन मधुमक्खियों, तितलियों आदि को रिझाने के लिये है, जो अनजाने ही अपनी सौन्दर्य्य लिप्सा में पड़कर एक फूल का परागकेसर दूसरे के गर्भ केसर में पहुँचा देते हैं। तितली का रंग फूलों जैसा रंग-विरंगा इसीलिये है कि

*"We admire Beauty for no other reason than that we are used to it."

वह फूलों में छिपकर अपनी आत्मरक्षा कर सके।

सौन्दर्य्य-मीमाँसा में अन्य प्रकारों से भी प्रकृति का उपयोग किया गया है, जिनमें ह्यूम और हरबर्ट स्पेन्सर के प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं। ह्यूम के मतानुसार प्रकृति ने विषयों (विभावों) में कुछ ऐसे गुण निहित कर दिये हैं, जो हमारे मन में सौन्दर्य्य-भावना को जागृत करती हैं* परन्तु सौन्दर्य्य स्वयं कोई वस्तुओं का गुण नहीं अपितु सौन्दर्य्यानुभूति करने वाले मन में विद्यमान हैं (Beauty is no quality in things themselves. It exists only in the mind which contemplates them) हर्बर्ट स्पेन्सर एक मूल सौन्दर्य-भावना की कल्पना करता है, जो न केवल व्यक्ति के अपितु उसकी जाति के जीवन में क्रमशः विकसित और संस्कार रूप में सञ्चित होती रही है; इसी के कारण हमें सौन्दर्य्यज आनन्द प्राप्त होता है। स्पेन्सर की मूल-सौन्दर्य्य-भावना की तुलना रस्किन की प्रमेयात्मक (Theoretic) वृत्ति से की जा सकती है, परन्तु रस्किन स्पेन्सर के विपरीत उसे प्राकृतिक विकास से उत्पन्न नहीं मानता, और उसके मत में एक सौन्दर्य्य की कल्पना भी निहित है, जिसके अनुसार वह सौन्दर्य को वस्तुगत (typical) तथा मौलिक (Vital) दो प्रकार का मानता है।

अध्यात्मवाद

जैसा ऊपर देख चुके हैं, ह्यूम ने ही, सौन्दर्य को प्रमाता के

*" It must be allowed that there are certain qualities in objects which are fitted by nature to produce these particular feelings."

मन में स्थित मान कर, सौन्दर्य्य-मीमांसा में प्रमाता को प्रमुख स्थान दे दिया, परन्तु फिर भी वह वस्तु-स्थित गुणों का अत्यधिक आश्रय लेने से भौतिकवादी ही बना रहा। इसी प्रकार, रस्किन ने वस्तु की अनन्तता (infinity) एकता (unitiy) स्थिरता (repose), सम्मात्रा (Symmetry) शुद्धता एवं संयति (moderation) में सौन्दर्य देखते-देखते अपनी ईश्वरवादी विचार धारा के कारण बलात् वस्तु के इन गुणों का संबन्ध ईश्वर से जोड़ा है। परन्तु, इन दो भौतिकवादी सौन्दर्य्यशास्त्रियों की भांति ही अधिकांश अध्यात्मवादियों ने भी प्रमाता अथवा ईश्वर को महत्त्व देकर सौन्दर्य्य-मीमांसा की है, जिनमें कुछ तो अपनी धार्मिक श्रद्धा के वशीभूत होकर ही ईश्वर की सर्वगुणसम्पन्नता में सौन्दर्य्य को भी स्थान दे देते हैं। अतः सेन्ट आगस्टाइन के अनुसार असीम शिवत्व, सत्यत्व एवं सौन्दर्य्य ईश्वर के गुण हैं, और ईश्वर ही वस्तुओं को ये गुण प्रदान करता है। लेवीक (Leveque) सौन्दर्य्य को ईश्वर अथवा मन को अभिव्यक्ति मानता है, जो वस्तुओं के एकत्त्व, वैचित्र्य, वर्ण एवं कोमलत्व आदि गुणों के द्वारा प्रकट होता है।

कुछ ऐसे सौन्दर्य्यशास्त्री हैं, जिन्होंने प्रमाता और प्रमेय, दर्शक और वस्तु को 'एक' में लाने का प्रयत्न किया है। थियोडोर विशेर के अनुसार, जब कि कला अथवा सुन्दर विषय में प्रमाता ही अपने को प्रमेय रूप में देखता है, शेलिंग (Schelling) प्रमाता (Sulyect) एवं प्रमेय (object), आत्मा एवं विश्व की एकता में विश्वास करता है। उसके अनुसार 'अहं' और 'इदं' एक 'आत्यंतिक प्रज्ञा' द्वारा अभिन्न-रूप से एकत्व में संबद्ध हैं, परन्तु प्रमाता एवं विषय की यह

एकता इच्छा एवं ज्ञान के क्षेत्र में तो अस्पष्ट या धुँधली रहती है और उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति 'कला' में होती है; इसी प्रकार सान्त में अनन्त की अभिव्यक्ति को सौन्दर्य्य कहते हैं। शापेनहावर प्रमाता (subject) एवं विषय (object) को मूल संकल्प (Will) का परिणाम मात्र मानता है और सौन्दर्य्य को भी इसी संकल्प की किसी शक्ति का व्यक्तीकरण मानता है। हेगेल भी इसी प्रकार दोनों को एक ही आत्यंतिक (Absoltite) का परिणाम मानता है और सौन्दर्य्य* को इन्द्रियग्राह्य अध्यात्म समझता है, परन्तु सौन्दर्य्य की उपस्थिति केवल प्रकृति एवं कला के इन्द्रिय-ग्राह्य रूप में मानने से, वह अपनी सौन्दर्य्य-मीमांसा को न्यूनाधिक भौतिक क्षेत्र में ही सीमित कर देता है।

इस प्रकार की विचारधारा में सर्वोच्च स्थान प्लेटो एवं प्लोटीनस का है। प्लेटो भारत के तांत्रिक दर्शन की भाँति दो प्रकार की सृष्टि मानता है, जिसको वह शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि न कह कर चेतन (Ideal) एवं प्रतीयमान (Phenomenal) world कहता है; पहली में दूसरे के सभी रूप और तत्त्व बीज रूप में विद्यमान हैं। अतः उसके अनुसार प्रतीयमान जगत के सौन्दर्य्य का मूल रूप भी चेतन (ideal) जगत में है, जो 'अद्वैत तथा आत्यंतिक सौन्दर्य्य है, जिसमें न ह्रास है, न वृद्धि न उदय है न अंत, अपितु जो सदा ही एक-रूप रहता है।" प्रत्येक सुन्दर वस्तु इसी आत्यंतिक (Absolute) सौन्दर्य्य से ही सुन्दर है। इसीलिये, प्लेटो का कथन है कि, "जो भी सौन्दर्य्य के तत्त्व की यथोचित खोज करने में दत्तचित्त होगा,

---

* The Beautiful is the Spiritual making it self known sensuously."

उसे विभिन्न सुन्दर रूप देखते ही यह पता लगेगा कि एक रूप की सुन्दरता दूसरे की सुन्दरता से भिन्न नहीं है; और फिर भी यदि वह साधारणतया विभिन्न रूपों में ही सौन्दर्य्य ढूँढ़ता रहा, तो उससे बड़ा मूर्ख और कौन होगा, क्योंकि वह यह भी न जान सका कि सब रूपों में सौन्दर्य्य एक ही है।" प्लोटिनस के अनुसार विश्व का मूल-तत्त्व 'शिवत्वमय एक' है, जिससे प्रज्ञा अथवा बुद्धि (objective reason) का उदय होता है, यही आत्यंतिक सौन्दर्य्य है जो भौतिक पदार्थों को निज गति द्वारा आकृति प्रदान करके सौन्दर्य्य देता है। प्लेटो और प्लोटीनिस के 'आत्यंतिक (Absolute) सौन्दर्य्य' की तुलना लार्ड शेफ्टेशबरी के 'प्रथम सौन्दर्य्य' (First Beauty) से भी की जा सकती है, जो स्वयं ईश्वर है और जिसके प्रतिबिंब-स्वरूप जगत के सारे सौन्दर्य्य वर्तमान हैं। हचीसन का आत्यंतिक (Absolute) सौन्दर्य्य भी बहुत कुछ ऐसा ही है, और उसके सापेक्षिक सौन्दर्य्यके अन्तर्गत प्रतीयमान या दृश्य जगत का सारा सौन्दर्य्य रक्खा जा सकता है।

कुछ ऐसे भी सौन्दर्य्यशास्त्री हुये हैं, जो मानव-व्यवहार के विश्लेषण द्वारा सौन्दर्य-मीमांसा में प्रवृत हुये जान पड़ते हैं। इस दृष्टि से, शिलर के अनुसार मानव-व्यवहार के तीन क्षेत्र हैं—(१) जड़ जगत, जहां आत्मा भौतिक बन्धनों से जकड़ा हुआ कर्म में प्रवृत रहता है; (२) नीति-जगत, जहाँ नैतिक बन्धनों से बन्धा हुआ रहता है और उसका आचारण पूर्ववत् ही सीमित और अवरुद्ध सा रहता है। (३) इन दोनों क्षेत्रों के बीच, क्रीड़ा-जगत् है, जिसमें कोई बंधन नहीं और जहां मानवात्मा स्वतंत्र और स्वच्छन्द होकर कर्म करता है। क्रीड़ा-जगत् में जड़-जगत् एवं नीति-जगत का समन्वय है; यही

सौन्दर्य्य का जगत् है; यहां आनन्द का क्षेत्र है। यहीं आत्मा सुख और सौन्दर्य्य के साथ विहार अथवा क्रीड़ा कर सकता है, और शिलर के मत में यह सौन्दर्य्य-क्रीड़ा ही मनुष्य का परम कर्तव्य एवं वास्तविक मनुष्यत्व है। लोत्से मानव-व्यवहार को एक दूसरे ही दृष्टिकोण से देखता है और वह भी उसके तीन क्षेत्र मानता है—(१ सत् लोक (Region of facts) (२) नियम लोक (Region of Laws) तथा (३) इष्ट-बुद्धि लोक (Region of standards of Values), ये वास्तव में तीनों एक ही हैं, केवल तार्किक विवेचन के लिये पृथक पृथक मान लिये गये हैं। इनमें से सत् लोक में ही ऐसी इष्ट-बुद्धियाँ (Standards of Values) रहती हैं, जो सदाचार एवं सौन्दर्य्य की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट कही जा सकती हैं। नियम-लोक गौण है और सत्-लोक का एक साधन-मात्र है। सत् लोक में ही, ईश्वर ने इन तीनों का सम्मिलन और सामञ्जस्य स्थापित कर रक्खा है। इष्ट-बुद्धिओं साधनों एवं अनिवार्य्य नियमों के बीच जो एकता का प्रकाश या सौन्दर्य्य सुषमा है, वही सौन्दर्य्य है। लोत्से के अनुसार सौन्दर्य्य सुख (pleasure) का ही एक विकसित रूप है और उससे भिन्न नहीं है; दोनों में यदि कोई भेद है, तो इतना ही कि सुख इन्द्रिय-गोचर है तथा वह हमारी वैयक्तिक आत्मा को आनन्दित करता है, जब कि सौन्दर्य्य अन्तःकरण (intuition) गम्य है और हमारी व्यापक (universal) आत्मा को आनन्दित करता है। विक्टर काउसिन मानव-व्यवहार में सौन्दर्य्य, सुख एवं उपयोगिता का पृथक पृथक अस्तित्व देखता है और अंत में सौन्दर्य्य के तीन भेद करता है:—

(१) भौतिक सौन्दर्य्य—जड़ वस्तु या मूर्ति में यही सौन्दर्य्य है; इसका मूलाधार भावों की अभिव्यक्ति है। भौतिक सौन्दर्य्य वास्तव में स्वयं कुछ नहीं, वह तो किसी आभ्यंतरिक सौन्दर्य्य की भौतिक अभिव्यक्ति मात्र है।

(२) नैतिक सौन्दर्य—उक्त भौतिक सौन्दर्य्य जिस आभ्यंतरिक सौन्दर्य्य की अभिव्यक्ति है वही आध्यात्मिक अथवा नैतिक सौन्दर्य्य है।

(३) मानसिक सौन्दर्य्य—उक्त दोनों सौन्दर्य्यों के मूल में मानसिक सौन्दर्य्य (Ideal or Mental Beauty) है। उक्त दोनों सौन्दर्य्य सापेक्षिक हैं परन्तु यह शुद्ध आत्यंतिक सौन्दर्य्य है। यही ईश्वर है। काउसिन की भाँति ज्वायफ्र की सौन्दर्य-मीमांसा भी मानव-व्यवहार में सौन्दर्य, सुख एवं उपयोगिता की पृथक पृथक सत्ता स्वीकार करती है और सुन्दर, सुखद एवं उपयोगी को भिन्न भिन्न मानती है। सौन्दर्य्य किसी अदृश्य शक्ति की अभिव्यक्ति है; वह शक्ति प्राकृतिक अथवा भौतिक उपकरणों द्वारा व्यक्त होता है। यह दृश्य जगत् वसन (वस्त्र) है, जिसको वह वासी (अदृश्य सत्ता) धारण किये हुये है।

सौन्दर्य-मीमांसा की एक धारा मानसिक वृत्तियों या शक्तियों का आधार मानकर चली है। रीड के अनुसार ज्ञान शक्ति (Cognition) तथा इच्छा शक्ति (affection) जो हमारे मन में हैं, वे वस्तुतः ईश्वरीय शक्तियां है और तत्त्वतः एवं मूलतः सुन्दर हैं। जो वस्तुयें सुन्दर कही जाती हैं, उनमें इन्हीं ईश्वरीय शक्तियों की अभिव्यक्ति है; जिस वस्तु में यह अभिव्यक्ति जितनी ही अधिक होती है, वह वस्तु उतनी ही अधिक सुन्दर होती है।

अतः रीड के अनुसार सौन्दर्य्य कोई वस्तुओं का गुण नहीं और न वह मानसिक वस्तु ही है। वह ईश्वरीय शक्ति है, जो अन्तः करण-गम्य है। कान्ट मन की तीन शक्तियाँ मानता है, जिनके अनुसार दर्शन को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया गया है :—

(१) शुद्ध-बुद्धि-मीमांसा (इच्छा-शक्ति-संबन्धी)
(२) व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा (ज्ञान-शक्ति-संबन्धी)
(३) रुचि मीमांसा (सुख–दुःख-बोध–संबन्धी)

इनसे, तीसरे के अन्तर्गत सौन्दर्य—मीमांसा आती है। सौन्दर्य्य का विवेचन करते हुए, कान्ट ने उसके गुण, परिमाण, सम्बन्ध एवं प्रकार का वर्णन किया है। सौन्दर्य्य से शुद्ध तथा निःस्वार्थ आनन्द की प्राप्ति होती है। सौन्दर्य्य का आनन्द सार्वभौम होने से प्रत्येक द्रष्टा को सुन्दर वस्तु से आनन्द मिलता है, परन्तु हमारा सौन्दर्य्य–संबन्धी निर्णय वैयक्तिक एवं एकाकी होता है। सुन्दर पदार्थ का सम्बन्ध हमारे साथ स्वार्थमय नहीं हैं; उसके विभिन्न अंगों में जो परस्पर संबन्ध है, उसका एकमात्र उद्देश्य सौन्दर्य्य–सृजन है। सौन्दर्य्य सब को और अवश्य ही आनन्द देता है।

(घ) संभावना

उक्त सारी अध्यात्मवादी मीमांसा से सौन्दर्य्य के स्वरूप के विषय में यदि कोई महत्वपूर्ण बात ज्ञात होती है तो यह कि वह वस्तु का धर्म नहीं है और उसकी प्राप्ति प्रमाता के अन्तर्जगत में ही हो सकती है रस गङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ के

"लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता" में भी यही सत्य निहित है। उनके अनुसार रमणीयता अथवा सुन्दरता लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न करती है और इसी आह्लाद को उत्पन्न करने वाले ज्ञान के गोचर अथवा प्रत्यक्ष होने को सौन्दर्य्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में, सौन्दर्य्य एक ज्ञान विशेष का प्रत्यक्षीकरण है —ऐसे ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण जिसमें लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न करने की क्षमता हो, पण्डितराज के इस 'लोकोत्तराह्लादजनकज्ञान' इतना अस्पष्ट एवं अनिश्चित है कि इसके अन्तर्गत जहां प्रथम सौन्दर्य्य, आत्यंतिक सौन्दर्य, शुद्ध ज्ञान आदि की उक्त ऐसी ही अस्पष्ट एवं अनिश्चित कल्पनाओं का समावेश हो सकता है, वहाँ उसमें सौन्दर्य्य के शाश्वत × एवं चिरनवीन + स्वरूप की ओर संकेत करने वाली कवि कल्पनाओं के लिये भी स्थान मिल सकता है। यद्यपि ये सभी अध्यात्म-वादी कल्पनायें सौन्दर्य्य-मीमांसा के क्षेत्र में सराहनीय प्रयत्न हैं, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि इनमें वैज्ञानिक इयत्ता एवं शास्त्रीय स्पष्टता का अभाव है। इसका कारण यह है कि इनके प्रेरक दृष्टिकोण न्यूनाधिक एकाङ्गी है।

दृष्टिकोण की एकाङ्गिता ही उपर्युक्त भौतिकवादी मीमांसा की असफलता के लिये उत्तरदायी है। जिस प्रकार उक्त 'लोकोत्तरवादी मीमांसायें' प्रमाता की ओर ही दृष्टि रखती हैं, और 'विभाव' की ओर से बिल्कुल मुख मोड़ लेती हैं, उसी प्रकार उपयोगितावाद अथवा औचित्यवाद केवल विभाग को ही केन्द्र मान लेता है और प्रमाता को लगभग भुला ही देता है। यही बात साहचर्यवाद एवं विकासवाद आदि के विषय में भी ठीक

× A Thing of beauty is a joy for ever

+ क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

बैठती है। ये मत यदि कभी विभाव से हटकर प्रमाता की ओर जाते भी हैं, तो भी उसके भौतिक रूप तक ही; भौतिक के पीछे पीछे 'अध्यात्म' की उन्हें कभी चिन्ता नहीं होता, क्योंकि उनके अनुसार उसका अस्तित्व ही नहीं।

दोनों प्रकार का एकाङ्गीपन एक मूल तथ्य का तिरस्कार करता है। यह सर्व विदित बात है कि सौन्दर्य्यानुभूति के व्यापार में प्रमाता एवं विभाव दोनों का कुछ न कुछ हाथ है; उक्त एकाङ्गीपन इस को भूल जाता है, और वह यह भी भूल जाता है कि मनुष्य न तो केवल 'तन' ही है और न केवल 'मन' ही—वह 'तन' और 'मन' दोनों का संघात है; यदि एक शब्द से उसे व्यक्त करना चाहें, तो हम उसे 'तन-मन' अथवा और आगे जायें तो 'जड़-चैतन्य' अथवा 'शरीर-आत्मा' कह सकते हैं। प्रमाता एवं विभाव के महत्त्व तथा मनुष्य के अस्तित्व को सम्यक रूप से समझे बिना सौन्दर्य्य-मीमांसा सदा एकांगी, और अधूरी ही रहेगी। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि आधुनिक युग विज्ञान-प्रधान होते हुये भी सौन्दर्य्य की वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय मीमांसा में असमर्थ तथा असफल ही रहा है।

पूर्व की ओर

विश्व भरण पोषण कर जोई ।
ताकर नाम भरत अस होई ॥

जब तुलसीदास ने भरत का अर्थ भरण-पोषण करने वाला किया तो यह उनकी कोई मन गढ़न्त न थी। वेद में समस्त विश्व का 'भरण करने के कारण प्रजापति का नाम भरत (श० ब्रा० ६, ८, १, १४; यजु० १२, ३४) है; हमारे पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में रहने वाला आत्मा या परमात्मा अपने क्षेत्र की प्रजाओं का 'भरण करने से 'भरत' कहलाता है (कौ० ब्रा० ३, २; श० ब्रा० १, ४; ३, २; १, ५, १, ८); प्राण, अग्नि (ऐ० २, २४; श० १, ५, १, ८) तथा सूर्य (श० ४, ६, ७, २१) भी इसी लिये 'भरत' कहे गये हैं। ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार दौष्यन्ति भरत का नाम भी न केवल इस लोक का अपितु इन्द्र—लोक तक का 'भरण' करने से पड़ा जान पड़ता है (ऐ० ८, २३, श० १३, ५, ५, ४, ११-१३; २१) कहा जाता है इस प्रकार हमारे देश के नाम का आधार आस्तिकता और विश्वबन्धुत्व दोनों ही हैं। यही वस्तुतः भारतीयता के मूल तत्त्व हैं, जो वेद, वर्द्धमान तथा बुद्ध की वाणी द्वारा प्रकट हुये और जिनको आधुनिक युग में भी गांधी जी ने सत्य एवं अहिंसा का नाम दिया।

हमारी राष्ट्रीयता की कल्पना भी इसके अनुरूप ही है। अथर्ववेद के एक मंत्र के अनुसार राष्ट्र शब्द संभवत: 'रा' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है देना अतः राष्ट्र की कल्पना का आधार है दान' उत्सर्ग और बलिदान की भावना। प्रत्येक व्यक्ति अपनी 'राति' (देन) द्वारा जिस समाज का पोषण करता है और जो अपनी राति द्वारा प्रत्येक ऐसे व्यक्ति का पोषण करता है वह राष्ट्र है। जो व्यक्ति अपनी 'राति' समाज को नहीं देता या जो इसलिये अथवा किसी अन्य कारण से समाज की राति पाने का अधिकारी नहीं वह 'अराति' है दस्यु है, समाज का शत्रु है। अतएव 'नेशन' के लिये जहाँ, एक वेश, एक भाषा, एक राज्य, और किसी किसी के अनुसार एक रंग और एक पूजा-पद्धति की भी आवश्यकता हो सकती है, वहां भारत में वेश, भाषा, राज्य, रंग तथा, पूजा-पद्धति की अनेकता होते हुये भी शताब्दियों तक एक राष्ट्र रहा। राष्ट्र और राष्ट्रीयता का यह उदात्त आदर्श न केवल देश के भीतर अपनाया गया, अपितु प्रवासी भारतीयों ने भी इसी को अपनाया। इसी का परिणाम है कि भारतीय संस्कृति जहाँ गई वहां उसने स्थानीय संस्कृतिको गौरव प्रदान किया। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में—

"Wherever it went, Indian Philosophy and culture come not to destroy, but to fulfil It came like the life giving rain, and not like the burning wind or killing blight. We cannot help feeling sad at the destruction of Mexican, Central American and Peruvian Cultures by the greed, the superstition and the fanaticism of Catholic spain ×××× A Mexico or a Peru with out the Spaniards—who would

regret it ? But can we contemplate a Java and a Siam, a China and a Japan, without the richness of life and experience and the astonishing efforescence af their minds and spirits manifesting itself in literature and art and ritual which Contact with India brought them ?"

भारतीयता की यही उदात्त समन्वय-भावना 'भारत' के मूल में भी निहित है। नाट्य और संगीत से संबन्ध रखने वाले एक भरत और हैं। एक परंपरा के अनुसार इनके नाम के भ, र, और त क्रमशः भाव, राग तथा ताल के द्योतक हैं जिनके समन्वय के बिना नाट्य या संगीत संभव नहीं। उपनिषद् के एक रूपक में विश्व की प्रत्येक क्रिया प्रक्रिया को एक संगीत माना गया है और पौराणिक कल्पना उसे नटराज का नाट्य 'मात्र ही मानेगी। अतः संस्कृति-प्रसार की क्रिया को भी एक संगीत या नाट्य मानलें, तो इसे भारती तभी कह सकते हैं जब उसके भाव, राग तथा ताल में समन्वय हो—दाता से लेकर गृहीता तक एक शान्त, स्निग्ध तथा सरस स्रोत समभाव से बहने लगे। अतएव भारत एवं भारतीयता के आधार में न केवल आस्तिकता एवं बन्धुता है अपितु समन्वय-साधना भी। सत्य, अहिंसा और समंन्वय भारतीयता के श्लाघ्य तत्त्व होने से, वह उन्हें दैवी संपक्ति मानती है और इनसे विपरीत तत्त्वों को आसुरी संपत्ति। भारतीयता का यही उदात्त आदर्श श्री वृन्दावनलाल वर्मा की कृतियों में मुखरित हो उठा है। वर्मा जी सर्वत्र अपनी दृष्टि भारतीयता की इसी ऊँची भूमिपर रखते हैं। उनके सभी नायक और नायिकायें इसी आदर्श की ओर प्रयत्नशील हैं। परतंत्र भारतीय-जीवन में इन तत्त्वों की कमी वर्मा जी को खटकती रही है, अतः निराशा, दैन्य तथा

अभाव से भरे यथार्थ की ओर न जाकर, उन्होंने भारतीय इतिहास के उन स्थलों को चुना है, जहां सत्य, प्रेम आदि के लिये निर्भयता एवं वीरतापूर्वक प्राण दिये गये हैं। यद्यपि इतिहास के जिस युग से वर्मा जी ने अपनी कृतियों के लिये सामग्री ली है वह भारतीयता के उदात्त आदर्श का खंडहर युग ही है, परन्तु फिर भी उसमें वास्तविक अतीत के मूल्यवान अंश मिल जाते हैं जिनके श्रेय को चमकाते हुये और हेय पर आँसू बहाते हुये, वर्मा जी भारतीय जीवन को समृद्ध बनाने के लिये प्रेरित करते हुये दिखाई पड़ते हैं। अन्य कृतियों के विपरीत 'पूर्व की ओर' हमारे इतिहास के उस युग से संबन्ध रखता है, जब राष्ट्र स्वतंत्र था और जब आस्तिक्यता बन्धुता तथा समन्वय के तत्वों को प्रचुर मात्रा में पाकर भारतीयता सार्थक हो रही थी। स्वतंत्र भारत के लिये ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता है।

नाटक में एक भारतीय महाराजकुमार की कथा है जो स्वदेश से निर्वासित होकर तथा आपत्ति के थपेड़े खाकर भारतीयता के मर्म को समझता है। धान्यकटक का राजकुमार अश्वतुंग राज्यलिप्सा से प्रेरित होकर असत्य, दंभ, पाखण्ड और हिंसा का आश्रय लेता हुआ, सैन्य-संघटन के लिये स्वर्ण-प्राप्ति का उद्योग करता हैं जिसके परिणाम-स्वरूप वह अपने साथियों सहित राज्य द्वारा दण्डित होता है और देश से निष्कासित होकर नाग-दीप में नर-भक्षियों के बीच अपने को पाता है। वहां एक अन्य निर्वासित भारतीय की संतान धारा देवी के सहयोग तथा बहुत कुछ देवयोग से, ये सब लोग न केवल आप स्वयं बलि होने से बचते हैं, अपितु द्वीप में नर-बलि ही सदा के लिये बन्दकर देते हैं। इधर महास्थविर जय भिक्षु के नेतृत्व में भारतीयों के एक दल का जहाज वारुण द्वीप को जाते

हुये नाग-द्वीप के तट पर आता है जिस धारा-सहित अश्वतुंग तथा उनके साथियों को वारुण जाने का अवसर मिलता है। वारुण में दुर्भिक्ष, भुखमरी, उत्पीडन अशान्ति और अव्यवस्था है; वहां के भारती गण-तंत्र पारस्परिक वैमनस्य एवं विद्वेष से बिखरे हुये और अशक्त है। अश्वतुंग और उसके साथी समाज सेवा में दत्तचित्त होते हैं और अन्त में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापति करने में सफल होते हैं। उस द्वीप की वारुणी और भारती प्रजा मिलकर अश्वतुंग को राजा चुनती है और धारा उसकी रानी बनती है। राजा रानी दोनों को महर्षि अगस्त्य की संतान होने का गर्व और उनके द्वारा प्राचिरत उदार भारतीयता के प्रसार के लिये दोनों कृतसंकल्प होते हैं।

'पूव की ओर' का पहला दृश्य ही भारतीयता के सुन्दर स्वरूप को बड़े सरल ढँग से रख देता है। अपनी कोमलाङ्गिनी कन्या (गौतमी) समेत अपने युग का धन कुबेर कन्दर्पकेतु वनपथ पर नंगे पांव चलता हुआ उस नागार्जुनी कोंडा को जा रहा है जहाँ के "जीवन में आत्मा के सौन्दर्य्य की ओर मन को लगाना पड़ता है, आत्मा की मञ्जुलता पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है '......' अन्तर्निहित सौन्दर्य्य की भाषा में" बोला जाता है। भौतिक ऐश्वर्य द्वारा चरण-चुम्बन कराती हुई यह आध्यात्मिकता ही आदर्श भारतीयता है और इसके विपरीत भौतिकता को ही साध्य मानकर आध्यात्मिकता को भुलाने का प्रयत्न करना ही अभारतीयता है। अभारतीयता वस्तुतः संपूर्ण प्राणिवर्ग की एक व्यापक दुर्बलता है; इसी पर विजय प्राप्त करके भारतीयता की प्रतिष्ठा करना ही यथार्थ मानवता है। अभारतीयता भोग-लिप्सा से पनपती है; भारतीयता तप और संयम में निखरती है।

नाटक के कथानक का उद्भव और विकास इन्हीं दो के संघर्ष में होता है। विहार के अन्तर्निहित सौन्दर्य्य के विपक्ष में जो, बाहरी प्रकृति का सहज सरल सौन्दर्य्य' अभारतीयता ने प्रारंभ में ही (२, ६) खड़ा किया है, वह दूसरे दृश्य में अश्वतुंग का स्वर्ण-लोभ बनकर प्रकट होता है और तीसरे दृश्य में हिन्सा का अस्त्र ग्रहणकर भारतीयता पर प्रहार करने लगता है। महास्थविर जय के रूप में भारतीयता प्रतिवाद करती है—हिन्सा का अहिन्सा से, दुराग्रह का सत्याग्रह से और घृणा का प्रेम से (१६, ८-१३; १७, २-१०), परन्तु अभारतीयता के प्रतीक अश्वतुंग पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसका अतिचार निरंतर बढ़ता हुआ चौथे दृश्य में, श्रेष्ठी चन्द्रस्वामी की स्वर्ण-राशि को लूट कर तथा पांचवें में प्रतिष्ठान के भट्टनागर एवं नगर-सभा को अपमानित करता हुआ उत्तरोत्तर बढ़ता है। यहां भी उसका विरोध अहिंसा और सत्य से होता है—परन्तु बर्बरता के सामने इस सभ्यता की तब तक कुछ भी नहीं चलती जब तक उसका साथ 'दण्ड शक्ति' नहीं देती।

पाँचवें दृश्य के अन्त में महादण्ड नायक तथा उसके सैनिकों के रूप में जो दण्डशक्ति भारतीयता की रक्षा के लिये खड़ी होती है उसका स्पष्ट स्वरूप सातवें दृश्य में धान्यकटक नरेश के राजदरबार में प्रकट होता है। वहां न केवल अभारतीयता के प्रतीक राजकुमार अश्वतुंग को अपने अपराधों के लिये निर्वासन का घोर दण्ड देकर अपितु उसे भिक्षु के करुणा-कण देकर भी भारतीयता उसे आतङ्कित करती है जो करुणा-प्लावित कठोर दण्ड प्रथम अंक में दिया गाता है, उसी के आतङ्क को बढ़ाने में प्रकृति और नियति की अदृश्य शक्तियाँ भी दूसरे अंक में सहायता देती हुई दिखाई पड़ती हैं—समुद्र में तूफान, जहाज

में पानी आना, नावों का डूबना, अश्वतुंग तथा उसके साथियों का नर-भक्षियों के द्वीप में पहुंचना आदि ऐसी ही घटनाएँ हैं जो अभारतीयता के प्रतीक अश्वतुंग पर भारतीयता की छाप बैठाने में सहायक होती हैं, जिसके कारण न वह केवल अपने भीतर भी प्रसुप्त भारतीयता को जागृत पाता है, अपितु घोर अभारतीयता की कीचड़ में फँसे हुये नाग-द्वीप के नर-भक्षियों में भी वह नर-बलि तथा नर-भक्षण बन्द करने में समर्थ होता है। वस्तुतः अश्वतुंग के तप और प्रायश्चित्त का समय यहाँ समाप्त होता है, जिसके विषय में जय ने कहा था —

"आपका प्रायश्चित हो गया अब अच्छे दिन आ रहे हैं। मुझको हर्ष है कि जीवन को धर्म के अनुसार व्यतीत करने के लिये आप बच गये। कष्टों की तपस्या ने आपको निखार दिया है।"

अतः चौथे अंक में भारतीयता अपने स्वस्थ और सबल रूप में सामने आती है। जय और अश्वतुंग के नेतृत्व में, असभ्य को सभ्य, असंस्कृत को संस्कृत, दुखी को सुखी तथा आतुर को आह्लादित बनाती हुई भारतीय संस्कृति विदेश में विजयिनी मानवता के रूप में 'नरबलि और पशुबलि का सर्वथा निषेध' करती हुई तथा समाज में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करती हुई दिखलाई पड़ती है। उसमें समीकरण, संतुलन और समन्वय की प्रचुर मात्रा है। जिस वारुण देश में पहुंच कर वह अपना सौम्य एवं शीतल प्रकाश फैलाती है, उसका वह नाम भी नहीं बदलना चहती, क्योंकि उसके प्रतिनिधि अपने उस एक अति-रिक्त दायित्व' को भली भांति समझते हैं कि वह "अपने देश से पूर्व की ओर सम्पत्ति अपहरण या जनपीडन के लिये नहीं आये हैं; भारतीय संस्कृति में जो कुछ उत्कृष्ट और सर्वसुन्दर

है उसके वितरण के निमित्त आये हैं, महर्षि अगस्त्य की परंपरा को पुष्ट करने" आये हैं।

भारतीय संस्कृति विदेशों में व्यापारियों के यान पर गई है। इस नाटक में भारतीय संस्कृति को वारुण द्वीप में लहलहाता हुआ दिखलाना ही अभीष्ट कार्य या फल है। प्रथम दृश्य में ही कन्दर्प एवं गौतमी के संवाद में वारुण चम्पा, यव, सौम्य आदि द्वीपों की चर्चा आती है जहाँ व्यापारी के साथ भिक्षुओं द्वारा धर्म—प्रचार के लिये भी यात्रा होती है (३, ८) और उस दृश्य का अंत गौतमी के इन शब्दों द्वारा होता है— "चलिये वारुण द्वीप की यात्रा अवश्य करूँगी।" व्यापार और धर्म की सम्मिलित जल यात्रा की यह चर्चा ही नाटक की 'आरंभ' अवस्था है। इस अवस्था में 'पूर्व की ओर' भारतीयता-गमन का जो 'बीज' वपन होता है वह आगे अश्वतुंग तथा उसके कारनामों से विस्मृत सा होने लगता है, तभी प्रथम अंक के अन्त में अपराधियों को दण्ड मिलता है और आदेश होता है कि "महाजलयान में भरभर ले जाना और किसी ऐसे द्वीप में छोड़ देना जहाँ इनको अपनी कुत्सित वृत्तियों का पूरा दमन करने में प्रयत्न—शील रहना पड़े।" जलयात्रा का निश्चित प्रस्ताव ही 'बिन्दु' है जो प्रथम अंक के विस्मृत-प्राय बीज को पुनः दृष्टि गोचर कराता है।

दूसरे अंक में जलयात्रा होती है। यही नाटक की 'प्रयत्न' अवस्था है, जिसमें 'कार्य' या फल की ओर प्रयत्न किये जाते हैं। प्रयत्न के विफल करने के लिये प्रकृति और नियति बाधक होकर उपस्थित होती है और तीसरे अंक में निराशा के बादल छा जाते हैं। ऐसा लगता है कि अब भारतीय संतति नरभक्षियों से बचकर

आगे न बढ़ सकेगी। परन्तु, इसी अंक के अन्त में, महानाविक भाग निकलता है। यही प्राप्त्याश' अवस्था का प्रारंभ है। चौथे दृश्य में न केवल महानाविक अपने जलयान को पुनः प्राप्त कर स्वदेश वापिस जाता है और 'असख्य पल्लव सेना को लाकर' न उस नाग द्वीप को विध्वन्स करने का व्रत करके 'प्राप्त्याशा' को स्पष्ट करता है, अपितु द्वीप में स्वयं विरोधी शक्तियों पर क्रमशः विजय प्राप्त करता है और प्राप्त्याशा सुविकसित हो जाती है। परन्तु मार्ग में बाधायें फिर भी रहजाती है और तीसरा अंक में इन्हीं का निवारण करता हुआ अन्त में जय भिक्षु आदि को लेकर एक भारतीय जलयान पुनः उसी द्वीप पर आता है और अश्वतुंग तथा उनके साथी निश्चित रूप से सुरक्षित होकर वारुण यात्रा के लिये पुनः सन्नद्ध होते हैं। यहाँ पर 'प्राप्त्याशा' पूर्ण रूप से विकसित हो कर 'नियताप्ति' में परिवर्तित हो जाती है 'जो चतुर्थ अंक में 'फलागम' उपस्थित कर नाटक के अभीष्ठ कार्य का संपादन कर दिखाती है।

(३)

जीवन के अध्ययन की दृष्टि से 'पूर्व की ओर' हिंदी साहित्य में अद्वितीय है। यों तो इसमें एक राजनैतिक अपराधी के पतन और उत्थान का अध्ययन किया गया है, परन्तु उसी से संलग्न जीवन के इतने पहलू आगये हैं जितने अन्यत्र मिलना कठिन है। राजनीतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक आदि समष्टिगत तथा महत्वाकांक्षा, लोभ, साहसिकता, ईर्ष्या स्वार्थपरता, त्याग तितीक्षा, औदार्य, भक्ति, सहिष्णुता' आदि से संबन्ध रखने वाले व्यष्टिगत पक्षों के अतिरिक्त यहां मानव संस्कृति एवं सभ्यता के विभिन्न स्तरों, असभ्यों और सुसभ्यों के पारस्परिक संबन्धों, स्थल और जल,

ग्राम नगर, राज-प्रसाद और ऋषि-आश्रम, स्त्री और पुरुष की विविध समस्याओं का अध्ययन इस पुस्तक में कवि की सहानुभूति, ऐतिहासिक के विवेक तथा दार्शनिक की दृष्टि के साथ किया गया है। जीवन के ऐसे विविध एवं व्यापक क्षेत्र को लेकर वर्मा जी ने भारतीयता का जो सुन्दर चित्रण इस नाटक में किया है उसमें मानव—समाज की अनेक महत्त्व पूर्ण समस्याओं पर स्वतः ही विचार हो गया है।

अहिंसा

सर्व प्रथम अहिंसा की समस्या है। अश्वतुंग एक साहसिक और आततायी है, जो महाचैत्य विहार के परम अहिंसक जय स्थविर से, जैसे बने वैसे, स्वर्ण, अथवास्वर्ण बनाने की विद्या ग्रहण करना चाहता है। जय नियम का पक्का है, वह पशुबल का भय सामने देखकर भी दृढ़ता पूर्वक कहता है, "महाचैत्य का अपमान मत करो राजकुमार। भङ्ग करने के लिये नहीं बनाये जाते नियम।" अत्याचारी अश्वतुंग "कभी तिरस्कार सहन नहीं कर सकते"—हिंसक में यह शक्ति कहां! परन्तु अहिंसक (जय) 'अपना तिरस्कार सहने की शक्ति रखते हैं।" उन्हें 'केवल अपने पाप के लिए पछताना पड़ताहै……मृत्यु के सिर पर आ जाने पर भी अपनी जिह्वा को पाप के वशीभूत नहीं होने देते।' विश्वप्रेम और भूत दया उनके जीवन का प्राण है, अतः क्रूर अश्वतुंग द्वारा पीडित किए जाने तथा उसके कुकर्मों को प्रत्यक्ष देखकर भीअपने उदार स्वभार व को व्यक्त करते हुये कहते हैं:—"पहले भोजन करलो राजकुमार, तब कर लेना यह कर्म. भूखे होगे।" सच्चा अहिंसक अपने विरोधी से भी प्रेम कर सकता है; उसके लिये कोई शत्रु होता ही नहीं।

यह अहिंसा केवल वीतराग महात्मा के व्यवहार की वस्तु है, जो कोरे आदर्श-रूप में रहकर साधारण जन को प्रेरणा एवं प्रोत्साहन भर दे सकती है, उनके आचरण की वस्तु नहीं हो सकती। जन—साधारण की अहिंसा राज्य के संविधान की अपेक्षा करती है, सार्वजनिक सुख, शान्ति और व्यवस्था के लिये जो नियम राज्य ने बनाये हैं उनका पालन कर लेने तथा उनकी रक्षाके लिये प्रयत्नशील होने में ही उनकी अहिंसा मर्यादित है। प्रतिष्ठान के भट्टनागर में हमें अहिंसा की यही मर्यादा मिलती है। वह जनपद के अधिकारों का उपहास नहीं सहन कर सकता और संविधान-विरोधी राजाज्ञा को भी तब तक मानने को तैयार नहीं "जब तक कि जनपद सभा का अधिवेशन नहीं हो गया और जबतक उस अधिवेशन में यह निर्णय नहीं हुआ कि इस आदेश-पत्र को मान्यता दी जाय अथवा नहीं"। प्रजातंत्रात्मक जीवन की जो मर्यादा संविधानीय परंपरा ने निश्चित करदी है वह "उसकी रक्षा का हठ करता है"—विपद का भय आसन्न होने पर भी आग्रहपूर्वक कहता है, "राजकुमार, सावधान हम थोड़े से प्रतिनिधियों का प्राणदण्ड अथवा बन्दीगृह-यातना देने से न तो आपसुख का अर्जुन कर सकेंगे और न आपके सन्तान।" यहां तक भट्टनागर की अहिंसा जय की अहिंसा के समान ही है।

परन्तु क्या आततायी के रोकने में इस अहिंसा का कोई उपयोग हो सकता है ? वर्मा जी का संभवत: उत्तर है 'नहीं' अतएव सर्वसाधारण की अहिंसा में न्यायसंगत हिंसा को भी स्थान है। भट्टनागर उसी हिंसा का भय दिखाने से नहीं चूकता। वह अश्वतुंग को चेतावनी देता है, "प्रतिष्ठान का सम्पूर्ण जनपद उठ खड़ा होगा।" जय संभवत: इस प्रकार की धमकी

देना हिंसा समझता और उसकी आत्मरक्षा के लिये सैनिक बल का प्रत्यक्ष सहारा मिलता होता तो अस्वीकार कर देता। परन्तु भट्टनागर को जब महादण्डनायक अपने सैन्यबल की सहायता देता है, तो वह सहर्ष स्वीकार करता है। साधारणजन के विपरीत, जय दण्डित अपराधियों के लिए भी करुणा रखता है और न्यायकारी राजा से निवेदन करता है कि 'विहार की जिस भाग के प्रदान का आदेश हो रहा है वह अपराधियों के पास ही रहने दिया जाय...यदि इनके हाथ में अपरिचित द्वीप में कुछ अर्थ रहेगा तो ये अपने जीवन के सुधारों में अधिक सुगमता के साथ समर्थ हो सकेंगे।"

जन साधारण के स्तर से देखने पर जय स्थविर की अहिंसा एक कल्पना की वस्तु है, उसी प्रकार जिस प्रकार गांधीजी की। परन्तु महात्मा की दृष्टि से वह एक व्यवहार की वस्तु है, और जन साधारण के जीवन-पोत को भवार्णव पार करने के लिए नैतिकता का एक ज्योतिस्तंभ है। हमारी दृष्टि से ऐसी अहिंसा आततायी और अतिचारी के सामने भले ही निरीह और असहाय प्रतीत हो, परन्तु उससे हमारे साधारण जीवन में सामाजिकता (social sense) सत्य-प्रियता तथा निर्भीकता को बनाए रखने में जो कार्य करते हैं वह अद्भुत है। यह निश्चित है कि इस प्रकार भी अहिंसा पशुबल के सामने भौतिक दृष्टि से सफल नहीं हो सकती, परन्तु उसका जो अध्यात्मिक प्रभाव दर्शकों पर पड़ता है वह अपरिमित है। इसी प्रभाव के कारण, तात्कालिक पराजय पाकर भी जय स्थविर की अहिंसा विजयी होती है और जिस आततायी ने उसको बंधन में जकड़ा था उसी के वह पशुता-पाश काटने में समर्थ होता है।

संस्कृति-प्रचार

नागद्वीप-समूह के असभ्यों को कथानक में लाकर वर्मा जी ने असभ्य मानवता के प्रति भी अपने उदार एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण को रक्खा है। पाश्चात्य जातियों ने इस प्रकार की असभ्य जातियों के साथ जो किया वह Red Bread Humanity uprooted तथा uncle Toms' Cabin जैसी पुस्तकों में देखा जा सकता है। पश्चिम सुधार का एक ही मार्ग जानता था और वह था आतंक, बलात्कार और हिंसा का मार्ग। 'पूर्व की ओर' में महानाविक मानों पश्चिम के स्वर में स्वर मिलाकर कहता है "हां धनुषबाण और खड्ग से सज्जित होकर चलने की अनुमति दो, तो मैं, मेरे साथी और अन्य योधा अभी उतर पड़ेंगे। ये द्वीपवासी केवल धनुष-बाण और खड्ग के धर्म को पहिचानते और मानते है।" गौतमी का भी सुझाव है कि "द्वीपवासियों को चारों ओर से घेरकर निश्शस्त्र कर दिया जाय और फिर उनको धर्म के द्वारा शोधा जाय।" परन्तु भारतीय संस्कृति जय के मुख से बोलती है कि "धर्म-बाण की नाक पर बैठकर नहीं चलता, उसको नंगे पैरों भ्रमण करना पड़ता है, क्योंकि लोहा से लोहा कटता है, परन्तु हिंसा से हिंसा नहीं कट सकती।"

प्रचारक का पथ हमारी दृष्टि में, कंटकाकीर्ण है, परन्तु सच्चे प्रचारक जय की दृष्टि में नहीं—"जब भगवान बुद्ध से उनके एक शिष्य ने अपने भारत देश के उत्तर-पश्चिम वर्त्ती एक खण्ड में धर्म-प्रचार के लिये आज्ञा माँगी, तब भगवान ने कहा, उस खण्ड के निवासी क्रूर सुने गये हैं, तुमको गालियां देंगे, तब क्या करोगे? शिष्य ने उत्तर दिया गालियां देंगे तो मारेंगे तो नहीं। भगवान बोले, यदि तुम्हारी मारपीट की तो? उसने

विनय की, मारपीट करेंगे, तो मार तो नहीं डालेंगे भगवान ने प्रश्न किया, और जो मार डाला तो ? शिष्य ने कहा, मार डालेंगे, तो परोपकार करते करते प्राण चला जायेगा और निर्वाण प्राप्त हो जायेगा इसलिये हम लोगों को मारे और खाये जाने का कोई भय नहीं।" ये साहस-भरे शब्द कोरे शब्द ही नहीं है, उनके साथ एक सहानुभूति-पूर्ण व्यावहारिक योजना भी है—"दीपवासी नर-बलि और पशु-वलि, थलचरों और नभचरों का वध अपना पेट भरने के लिये करते है, क्योंकि उनकी गांठ में और कोई साधन नहीं। हम विविध प्रकार के अन्न और फलों के बीज अपने साथ लिये जा रहे हैं। द्वीपवासियों को अन्न और फल उत्पन्न करने की क्रिया सिखलायेंगे, जिसमें वे हिंसा से विरत हो जाने की वृत्ति को ग्रहण करें। उनको हम लोहे के हल, हंसिये, हथौड़े, इत्यादि की भी शिक्षा देंगे।" जो लोग यह समझते है कि असभ्य लोग लोहे के अस्त्रों को पाकर अपना विनाश करलेंगे, उनको जय का उत्तर है कि "विनाश हथियार नहीं करता है, दूषित हृदय करता है। हृदय के दोष को दूर कर देने से फिर आशंका नहीं रहती।" सुधार में शिक्षा की उपयोगिता वर्मा जी पूर्णतया समझते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि कोई संस्कृति-प्रचार का अहंकार-पूर्ण कार्य क्यों करे। इसका उत्तर जय के शब्दों में देते हुए, स्वतंत्र भारत का प्रतिनिधि साहित्यक कहता है—"पतित को उठाना ही तो सामर्थ्य का उद्देश्य है, नहीं तो पशु के बल और मानव की शक्ति में अन्तर ही क्या रहा ?" इस प्रकार वर्मा जी भारत को अपनी संस्कृति की अन्तर्हित शक्ति का आश्रय लेकर स्वसंस्कृति के प्रचार के लिए पौरुष करने को प्रेरित करते हैं। परन्तु क्या पाश्चात्य संस्कृति के चरण चूमने वालों के कान इन

शब्दों को सुनेंगे भी ? वस्तुत: भारतीय राष्ट्र तब तक अपने अस्तित्व को सार्थक नहीं कर सकता, जब तक वह पुनः भुजा उठाकर यह न कह सके कि:—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(४)

'पूर्व की ओर' भारतीय स्वतंत्रता को सुदृढ़ करने के लिये एक प्रेरणा-शील आह्वान है। इस दृष्टि से, इस नाटक में वर्तमान भारत की झलक भी अप्रत्यक्ष रूप से आगई है। चौथे अंक के तीसरे दृश्य में दुर्भिक्ष–पीड़ित वारुण देश का चित्र इस देश में भी आज दुर्लभ नहीं है। दुर्बल-देह, फटे कपड़े पहने, केश बिखेरे भारती और वारुणी लोग चिल्लाते हैं, 'हम भूखों मर रहे हैं—हमारे बाल बच्चे तड़फ रहे हैं।'' उनका कहना है कि ''अन्न को व्योपारियों ने छिपाकर रख लिया है।'' वे चाहते हैं कि 'इन चोरों को दण्ड दो।' उत्तर मिलता है कि 'अन्नसत्र खुल रहे हैं, जहाँ सब को अन्न मिलेगा।'' परन्तु, वे और भी कुछ चाहते हैं। वे पूछते हैं कि 'उन व्यापारियों का क्या हुआ जिनकी अन्न चोरी के कारण सहस्रों मनुष्य काल के गाल में चले गये ?'' उन्हें विश्वास नहीं कि ''नगर का गणतंत्र उनको दण्ड देगा'' क्यों कि वह 'उन्हीं व्यापारियों का गणतंत्र है।''

ऐसी संत्रस्त जनता उन्हीं नेताओं में विश्वास रख सकती है जो 'अपना कर्त्तव्य-कर्म दिखला चुके हैं।'' अश्वतुंग ऐसा ही है। अतएव वारुणी लोग कहते हैं "हम को विश्वास है। हमको आर्यों का विश्वास है। हमको अगस्त्य की सन्तानों के

वचन का भरोसा है।" परन्तु, अश्वतुंग कोरी डींगें हाँकने में विश्वास नहीं करता और न श्री वर्मा जी ही। गांधी जी के नाम के पीछे अपनी दुर्बलताओं को छिपाने वालों के लिये, वर्मा जी अश्तुवंग के शब्दों में कहते हैं—"इस अकाल का सामना कर लेने उपरान्त अविलम्ब नहरें खोदने का काम करेंगे, तब होंगे अधिकारी उस महर्षि की संतान कहलाने के। न! न!! तब भी नहीं। धर्म का राज्य स्थापित हो जाय, सुन्दर भारतीय कलाओं का प्रसार हो जाय और जनता सर्वथा सुखी रहने लगे, तब होंगे अधिकारी उस पदवी के।"

अपने त्याग के बदले में भोग माँगने वाले आधुनिक नेताओं के लिये, जय के शब्दों में वर्मा जी कहते हैं—"त्याग तपस्याओं के लिये पुरस्कारों का बाँट! त्याग तपस्यओं के लिये माप, माप दण्ड, तखड़ी-बाँट नहीं हैं, परन्तु पुरस्कारों के लिये बना लिये गये हैं। आश्चर्य है। कदाचित इसी करण त्याग, तपस्या का दंभ करने वाले पुरस्कारों के लोभी अहङ्कार के मारे अपने त्याग तपस्या की सीमा को न जानकर द्वेषवश लड़ बैठते हैं।"

अश्वतुंग के शब्दों में वर्मा जी के राष्ट्र-व्यवस्था संबन्धी विचार भी देखे जा सकते हैं। वे चाहते हैं कि व्यष्टि और समष्टि, व्यक्ति और समाज के संबन्ध को ध्यान में रखकर सब कोई चले।" उनकी राष्ट्र-व्यवस्था में 'सब को अपने अपने धर्म के मानने की स्वतन्त्रता रहेगी, साथ ही सबको अपने समाज और राष्ट्र की रक्षा और प्रतिष्ठा के लिये अपने को होम देने के लिये उद्यत रहना पड़ेगा।" वर्मा जी उसी को राज्य-शक्ति सौंपना चाहते हैं जो धर्म के अनुसार आचरण करे और 'जनपद की रक्षा और उन्नति के हेतु अपने प्राण तक' भेंट कर सके। वे देश की विभिन्न इकाइयों को पर्याप्त स्वाधीनता देने के पक्ष में

हैं परन्तु शान्ति एवं व्यवस्था के मूल्य पर नहीं। और वे संस्थाओं के संहार में नहीं, निर्माण में विश्वास करते हैं। वारुण देशवासियों से अश्वत्थुंग कहता है, "इस द्वीप में के गणतन्त्र, आद्यकों के कुलतंत्र और एकतन्त्र सब चलने दिये जायेंगे, परन्तु अव्यवस्था कहीं भी नहीं होने दी जायेगी।" उनके मतानुसार, सफल राष्ट्र-व्यवस्था वही है, जिस में "सब के सहयोग से शासन व्यवस्था और भोजन-वस्त्रादि की सुलभता के साथ-साथ संस्कृति, कला तथा जन मनोरजन के साधनों का पूरा आयोजन' हो, क्योंकि "शासन-व्यवस्था और जनपद की अन्न समस्या के साथ ही जीवन को सुसंस्कृत बनाने का प्रश्न भी उतने ही महत्त्व का है।'

वर्मा जी की राष्ट्र कल्पना में श्रम को बहुत बड़ा स्थान है। परन्तु, उनके श्रमवाद की जड़ें उस विदेशी विचारधारा में नहीं, जो श्रम और संपत्ति के संघर्ष पर जोर देता है। वह कहते हैं कि 'श्रम और संपत्ति के सहयोग से ही तो राष्ट्र चलता है।' अत: "यदि श्रेष्ठी व्यापारी नहीं छूते फावड़ा और कुदाली, तो स्वर्ण, चाँदी और अन्न तो देते हैं।" वह श्रम को बहुत बड़ी शक्ति मानते हैं। "श्रम से पूर्वजन्म के पापों का क्षय और इस जन्म के पुण्य का उदय होता है; श्रम जीवन का गौरव, शौर्य्य का जनक, सम्पत्ति की माता, स्वाभिमान का बीज, चमत्कार का पुरोहित और समाज का बल होता है; संपत्ति समाज का अस्थि-पञ्जर है और श्रम उसका रक्त मांस; प्राण धर्म और संस्कृति।" विद्या, धन तथा शक्ति इन तीनों के अर्जन और वर्धन में' मनुष्य श्रम करता है. परन्तु 'मानव की महत्ता "उनका समुचित उपयोग करने में है। विद्या, धन और सम्पत्ति का उपयोग मानव कैसे करता है, यही ऊँची नीची संस्कृति का मापदण्ड है।"

यह भारतीय श्रमवाद है जो अधुनिक भौतिकवादी श्रमवाद की भांति संघर्ष नहीं ढूँढ़ता, अपितु समन्वय की खोज करता है और जिसकी प्रेरणा लेखक को 'वीर शैव' मत से मिली है। वस्तुत: यह श्रमवाद, जैसा कि इन पंक्तियों के लेखक ने अन्यत्र दिखलाया है, वैदिक समाजशास्त्र का मूल आधार है।

(५)

'पूर्व की ओर' की सब से बड़ी अपूर्वता है प्राचीन भारतीय जीवन में समुद्रयात्रा का स्थान बतलाना। वर्मा जी भूमिका में स्वयं लिखते हैं—"प्राचीन भारतीयों की समुद्र यात्राओं के प्रसङ्ग पर हिन्दी में नाटक और उपन्यास का अभाव है।" सच-मुच, इस प्रकार के साहित्य की हिन्दी में बड़ी कमी है, जो देश के जलयानो के विषय में कुछ कहता है। कथा और नाटक साहित्य में तो यह कमी और भी अधिक है। प्रसाद की एक आध कहानियों के अतिरिक्त अन्यत्र तो शायद ही इसका उल्लेख मिले। हम तो यही मानते चले आ रहे हैं कि भारतीय तो सदा से 'घर–घुसा' (Stay-at home People) रहे हैं और हमारे इतिहासकार भी हमें यही सिखलाते रहे कि भारतीय जलयान बनाना जानते ही न थे और उन्होंने जलयान-निर्माण की विद्या यूनानियों से सीखी। सचमुच परतंत्र भारत का इतिहास कार का अपने गोरे गुरुओं के विरूद्ध जाने का साहस कैसे कर सकता था।

परन्तु, जैसा कि वर्मा जी ने बतलाया है, इस देश में बड़े बड़े जलयान यूनानियों के आने से बहुत पूर्व बनते थे। "महायान बहुत लम्बे चौड़े और ऊँचे बनाये जाते थे—दो–दो तीन खण्डों वाले तक। ताम्रलिप्ति से महायान १२ दिन में लंका पहुंच जाता था। बौद्ध ग्रन्थों में बड़ी बड़ी समुद्र यात्राओं का वर्णन आया है। एक यान में तो सहस्रों मन लकड़ी के अतिरिक्त तीन सौ

व्यापारियों के जाने की भी बात कही गई है...जातक ग्रन्थों में ८०० ई० पू० से० २०० ई० पू० तक के समुद्र यात्रा-वर्णन मिलते हैं। बावेरु जातक में एक व्यापारी की कथा आई है जो बाबुल (बेबीलोन) में मोरों को बेचने के लिये यात्रा करता था। बलहास्स जातक में सात सौ व्यापारियों ने एक बड़ी भयंकर यात्रा की थी जिसका महानाविक अंधा था। महाजनक जातक में एक राजकुमार भागलपुर से सुवर्ण (सोम्य सुमात्रा) की यात्रा के लिये गया और धन के साथ डूब गया। शङ्ख जातक में काशी के एक लोभी ब्राह्मण की समुद्र यात्रा का वर्णन आया है।"वस्तुत: भारतवर्ष में अत्यंत प्राचीन काल से समुद्रयात्रा होती आई है और बड़े बड़े जलयान बनते आये हैं। ऋग्वेद में न केवल समुद्रयात्रा का वर्णन है, अपितु ऐसे जहाजों का भी उल्लेख है, जिनमें १००० पतवार तक लगते थे। आधुनिक अनुसंधान से तो यह भी सिद्ध होता है कि वास्कोडिगामा के जलयान को अफ्रीका से भारत तक का मार्ग दिखलाने वाला एक भारतीय जहाज ही था। भारतीय जलयानों और उनके द्वारा होने वाले समुद्री व्यापार को धक्का पहुँचाने वाला संभवत: पाश्चात्यों का भारत में आगमन तथा देश की अव्यवस्था थी।

अस्तु, भारतीय-जीवन के इस पक्ष का इतिहास रंगमञ्च पर लाकर वर्मा जी ने राष्ट्रीय गौरव को बढ़ाया है। यह नाटक न केवल इस मिथ्या धारणा को दूर करेगा कि भारतीय समुद्रयात्रा नहीं करते थे, अपितु इससे जनसाधारण में समुद्रयात्रा में रूचि भी उत्पन्न होगी। राष्ट्र के वर्तमान जीवन में समुद्रयात्रा और जलयानों का जो महत्त्व है, वह किसी से छिपा नहीं है। उसको अनुभव करते हुये, राष्ट्र को 'समुद्र की ओर' ले जाने के लिए अनेक उपन्यास, नाटक आदि आधुनिक कथानकों को लेकर संभवत: लिखे जा सकते हैं। परन्तु, अपने प्राचीन इतिहास से

यह कथानक लेकर वर्मा जी ने न केवल राष्ट्र को 'समुद्र की ओर' ले जाने का प्रयत्न किया है अपितु उसके प्राचीन गौरव का उद्धार भी किया है।

परन्तु, नाटक में समुद्री जीवन को लाने से, नाटककार की कुछ कठिनाइयाँ बढ़गई हैं। वर्मा जी स्वयं इन, कठिनाइयों का अनुभवि करते हुये कहते हैं।" खेलने वालों को रंगमञ्च-सृजन में कुछ कठिनाई अनुभव हो सकती है। परन्तु, हर एक युग में रंगमंच के सुधारने सुँवारने की साध तो अभिनय कर्ताओं में रही है। मुझे उसी साध का सहारा है।" इसके अतिरिक्त सिनेमा के लिये यह नाटक अधिक उपयुक्त है। आशा है फिल्म-कंपनियाँ इस की फिल्म बना कर लेखक के उद्देश्य-पूर्ति में सहायक होंगी। वस्तुतः वर्मा जी की प्रायः अधिकांश कृतियाँ, विषय की दृष्टि से, फिल्म के योग्य हैं और अपने राष्ट्रीय-गौरव की वृद्धि चाहने वाले किसी भी देश को इस प्रकार के साहित्य का अधिकाधिक प्रसार करने में गर्व हो सकता है, परन्तु क्या हमारा समाज भी इस ओर दृष्टि पात करेगा?

पदानुक्रम-सूची

अ

आ

ख

ग

च

ज

ड

त

थ

द

ध

न

प

भ

म

व

श

स

शुद्धि–पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	३	यात्र	मात्र
११	३	जगन	जगत
११	९	तत्वय	तत्वतः
१७	५	ताजा	जाता
२०	४	कवा	कथा
२०	१६	माधुर्लं	माधुर्य
२०	१७	अजगुणोत्पादक	ओजगुणोत्पादक
२१	७	धगद्धगज्जवललाट	धगद्धगद्धजलज्ज्वलाट
२६	२०	दो	को
२७	२	रूश	रूप
२९	१२	यहाँ	वहाँ
२९	१४	वहाँ	वही
३२	४	केकाल	कंकाल
३७	३	अभियक्ति	अभिव्यक्ति
३७	२१	वर्णात्मक	वर्णात्मक
५३	५	स्वमगमः	त्वमगमः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६	११	आकर	आकार
४६	१४	अव्वत्व	अव्यत्व
५१	३	आति	आदि
५२	१९	है	में
५३	६	काम परता स्वच्छंद की	कोम परता की स्वच्छंद
५४	१	मह्राकव्य	महाकाव्य
५४	१३	इसलिए	इसीलिए
५५	१९	inter Prot	interpret
५७	७	स्वपरूप	स्वरूप
५८	१४	द्वन्दों युद्धों	द्वन्दों, युद्धों
५९	२१	असुर विजय की का	असुर विजय का
६१	४	पव	पर्व
६४	१४	सहति	सहित
६८	१९	किसने थे।"	किसने।"
६९	३	निवासित	निर्वासित
७०	२४	अनन्त	अन्तर
७७	५	बाल	वाला
७९	५	प्रतीका	प्रतीकों
८१	१०	सांस्कृति	सांस्कृतिक
८३	४	आंफी	आंधी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८५	१	सुद्दढ़	सुदृढ़
८६	२१	अर्थ काम परायणत	अर्थ काम परायणता
८८	१०	रानैतिक	राजनैतिक
८८	११	अध्यात्मत्व	अध्यात्मतत्व
८९	२	विदेश	विदेशी
८९	१६	को	की
९०	२३	सांस्कृति	सांस्कृतिक
९१	२	जात-पाँत को	जाँत-पांत का
९२	२	असः	अतः
९२	१८	साम्राम्यवाद	साम्राज्यवाद
९५	९	सामांज्यवाद भी	साम्राज्यवाद की
१०२	३	विज्ञान भी	विज्ञान की
१०३	१२	परिस्परिक	पारस्परिक
१०५	३	सामन्य	सामान्य
१०७	२३	(Subyect)	(Subject)
११३	७	पंडितराज के इस	पंडितराज का यह
११५	१४	वद्धमान	वर्द्धमान
११७	१०	संपक्ति	संपत्ति
११९	१०	प्राचिरत	प्रचारित
११९	१८	अन्तनिहित	अन्तर्निहित

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२२	२२	काय	कार्य
१२४	१	राजप्रसाद	राजप्रासाद
१२४	२२	स्वभार व	स्वभाव
१२५	१८	अजु र्न	अर्जुन
१२६	१	सनिक	सैनिक
१३४	६	अनुभवि	अनुभव